February 2024

Bulletin of Sri Aurobindo International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

फ़रवरी २०२४

श्रीअरविन्द आश्रम

पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन फ़रवरी २०२४

विषय-सूची

समता का मार्ग	श्रीअरविन्द	३
मोद स्मिथ के साथ श्रीमाँ का पत्र-व्यवहार		९
एकमेव में दो	श्रीअरविन्द/श्रीमाँ	१९
दो 'सूत्रों' पर श्रीमाँ की टिप्पणी	'श्रीमातृवाणी' से	२३
भौतिक साधना	श्रीअरविन्द/श्रीमाँ	२६
श्रीअरविन्द के उत्तर (९१)		२८

समता

'योग-समन्वय' में

श्रीअरविन्द ने कहा है कि समता उनके सर्वांगीण योग की नींवों में से एक नींव है। *योग-समन्वय* के चार अध्यायों में उन्होंने उसकी महत्ता और अर्थ का खुलासा किया है। इस शृंखला में उनके इन्हीं अध्यायों को दिया जायेगा। *बुलेटिन* के इस अंक में हम "समता का मार्ग", *योग-समन्वय* के भाग-४ के अध्याय १२ का पहला भाग दे रहे हैं।

समता का मार्ग

पूर्ण और सर्वांगीण समता के वर्णन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि इस समता के दो पहलू हैं। अतएव इसे दो क्रमिक क्रियाओं के द्वारा प्राप्त करना होगा। उनमें से एक हमें अपरा प्रकृति की क्रिया से मुक्त कर देगी तथा दिव्य सत्ता की सुस्थिर शान्ति में प्रवेश प्रदान करेगी; दूसरी हमें परा प्रकृति की पूर्ण सत्ता और शक्ति में उन्मुक्त कर देगी और दिव्य एवं अनन्त ज्ञान, कार्य-संकल्प तथा आनन्द की समतापूर्ण स्थिति और विश्वमयता में प्रवेश प्रदान करेगी। पहली का वर्णन हम एक निष्क्रिय या अभावात्मक समता, अर्थात् सब कुछ का ग्रहण करने वाली समता के रूप में कर सकते हैं; वह समता जगत् के आघातों और दृग्विषयों का निर्विकार रूप से सामना करती है तथा उनके द्वारा हम पर लादे गये बाह्य रूपों और प्रतिक्रियाओं के द्वन्द्वों का निषेध करती है। दूसरी समता सक्रिय और भावात्मक है। वह जगत् के दृग्विषयों को स्वीकार तो करती है पर एकमेव भागवत सत्ता की अभिव्यक्ति के रूप में ही। वह उनके प्रति समत्वपूर्ण प्रतिक्रिया करती है जो हमारे अन्दर की दिव्य प्रकृति से प्रकट होती है तथा उन्हें उसके गुप्त मूल्यों में रूपान्तरित कर देती है। पहली एकमेव ब्रह्म की शान्ति में निवास करती है तथा सक्रिय अज्ञान की प्रकृति को अपने से दूर कर देती है। दूसरी उस शान्ति के साथ-साथ भगवान् के आनन्द में भी निवास करती है और आत्मा के प्रकृतिगत जीवन पर सत्ता के दिव्य ज्ञान, बल और आनन्द की छाप लगा देती है। समता की यह द्विविध स्थिति, जो एक ही सामान्य सिद्धान्त के द्वारा एकीभूत होती है, पूर्णयोग में समता के मार्ग का निर्धारण करेगी।

निष्क्रिय या निरी ग्रहणशील समता की प्राप्ति का प्रयत्न तीन विभिन्न सिद्धान्तों या मनोवृत्तियों से आरम्भ हो सकता है। उन सबका परिणाम अथवा अन्तिम फल एक ही होता है। वे हैं तितिक्षा, उदासीनता और प्रणति। तितिक्षा का सिद्धान्त इस पर निर्भर करता है कि यह जो इन्द्रिय-गोचर प्रकृति हमें हर तरफ़ से घेरे हुए है उसके सभी स्पर्शों, संघर्षणों और

संकेतों को सहन करने की सामर्थ्य हमारी अन्तःस्थ आत्मा में विद्यमान है; हमारी आत्मा उनसे पराभूत नहीं होती, न ही वह उनकी भावुक, सांवेदनिक, क्रियाशील और बौद्धिक प्रतिक्रियाओं को सहने के लिए बाध्य होती है। निम्न प्रकृति में अवस्थित बाह्य मन में यह सामर्थ्य नहीं है। उसकी सामर्थ्य सीमित चेतना-शक्ति की सामर्थ्य है; सत्ता के इस स्तर पर चेतना और शक्ति का जो महत्तर भँवर इस सामर्थ्य को चारों ओर से घेरे हुए है उससे जो भी चीज़ें इस पर टूट पड़ती हैं या इसे घेर लेती हैं उन सबका इसे यथाशक्ति उत्तम रीति से सामना करना होता है। विश्व में जो यह (बाह्य मन) स्वयं को धारण कर भी सकता है तथा अपनी व्यक्तिगत सत्ता का दृढ़तापूर्वक समर्थन कर सकता है उसका भी कारण, निःसन्देह, इसके अन्दर रहने वाली आत्मा की सामर्थ्य है, पर यह जीवन के आक्रमणों का सामना करने के लिए उस सामर्थ्य की सम्पूर्ण मात्रा को या उस शक्ति की अनन्तता को प्रकाश में नहीं ला सकता; यदि यह ऐसा कर सकता तो यह एक साथ ही अपने जगत् के समान बलशाली और उसका स्वामी होता। पर वास्तव में इसे जैसे-तैसे काम चलाना होता है। यह किन्हीं विशेष आघातों का सामना करता है और उन्हें अपूर्ण या पूर्ण रूप में, कुछ समय के लिए या सर्वकाल के लिए आत्मसात् करने, उनकी बराबरी करने या उन्हें वश में करने में समर्थ होता है, और तब यह उसी अनुपात में हर्ष, सुख, सन्तोष, अभिरुचि, प्रेम आदि की भावुक और सांवेदनिक प्रतिक्रियाएँ करता है, अथवा स्वीकृति, समर्थन, समझ, ज्ञान और विशेषानुराग की बौद्धिक एवं मानसिक प्रतिक्रियाएँ करता है, और इन प्रतिक्रियाओं को इसकी संकल्प-शक्ति आकर्षण और कामना के साथ तथा उन्हें चिरस्थायी बनाने, दोहराने, उत्पन्न और आयत्त करने एवं उसके जीवन की सुखकर आदत बनाने के लिए यत्न के साथ अधिकृत करती है। अन्य आघातों का भी यह सामना करता है पर उन्हें अपने मुक़ाबले अत्यन्त शक्तिशाली एवं दुर्धर्ष अनुभव करता है अथवा उन्हें अपने से अतीव भिन्न और बेमेल या इतने दुर्बल अनुभव करता है कि वे इसे सन्तुष्ट नहीं कर सकते; ये चीज़ें ऐसी होती हैं जिन्हें वह सह नहीं सकता या अपने समान नहीं बना सकता या पचा नहीं सकता, और यह इनके प्रति दुःख, पीड़ा, कष्ट, असन्तोष, अरुचि, अस्वीकृति, परित्याग, समझने या जानने की अक्षमता तथा प्रवेश से इनकार की प्रतिक्रियाएँ करने को बाध्य होता है। यह इनके विरुद्ध अपनी रक्षा करने, इनसे बचने, इनकी पुनः-पुनः आवृत्ति को टालने या कम-से-कम करने का यत्न करता है; इनके सम्बन्ध में यह भय, क्रोध, जुगुप्सा, त्रास, घृणा, विरक्ति तथा लज्जा की चेष्टाएँ करता है, इनसे मुक्त होने के लिए सहर्ष उद्यत रहता है, पर यह इनसे छूट नहीं सकता, क्योंकि यह इनके कारणों के साथ बँधा हुआ है और यहाँ तक कि उन्हें आमन्त्रित करता है और अतएव यह इनके परिणामों के साथ भी बँधा हुआ है और उन्हें भी आमन्त्रित करता है; क्योंकि ये आघात जीवन के अंग हैं, जिन चीज़ों को हम चाहते हैं उनके साथ उलझे हुए हैं, और इनके साथ निपटने में हमारी असमर्थता हमारी प्रकृति की अपूर्णता का एक अंग है। फिर, कुछ अन्य आघातों को हमारा सामान्य मन दबाने या निःशक्त कर देने में सफल हो जाता है और इनके प्रति वह उदासीनता, संवेदनशून्यता या सहिष्णुता की स्वाभाविक

प्रतिक्रिया करता है जिसका स्वरूप न तो भावात्मक स्वीकृति और सुखोपभोग का होता है और न परित्याग या कष्ट-भोग का। वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं, विचारों और क्रियाओं के प्रति, जो कुछ भी मन के सम्मुख उपस्थित होता है उस सबके प्रति, उसकी प्रतिक्रियाएँ सदा ही उक्त तीन प्रकार की होती हैं। परन्तु, ये सामान्य होती हुई भी अनिवार्य बिल्कुल नहीं हैं; ये सामान्य कोटि के अभ्यासपरवश मन के लिए एक योजना का गठन करती हैं जो सबके लिए बिलकुल एक-सी नहीं होती अथवा किसी एक व्यक्ति के मन के लिए भी विभिन्न समयों या विभिन्न अवस्थाओं में एक-सी नहीं होती। प्रकृति का कोई एक ही आघात किसी एक या दूसरे समय में उसके अन्दर सुखकर या भावात्मक, विरोधी या अभावात्मक अथवा उदासीन या तटस्थ प्रतिक्रियाएँ पैदा कर सकता है।

जो आत्मा प्रभुत्व प्राप्त करना चाहती है वह इन प्रतिक्रियाओं पर प्रबल और समत्वपूर्ण तितिक्षा की बाधक और प्रतिरोधी शक्ति का प्रयोग करके अपनी साधना आरम्भ कर सकती है। अप्रिय स्पर्शों से अपनी रक्षा करने या उन्हें त्यागने तथा उनसे बचने की चेष्टा करने के स्थान पर वह उनका सामना कर सकती है और दुःख झेलना तथा धैर्य, सहिष्णुता, अधिकाधिक समता अथवा कठोर या शान्त स्वीकृति की भावना के साथ आघातों को सहना सीख सकती है। यह मनोवृत्ति या यह साधना तीन परिणामों को, वस्तुओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की आत्मा की तीन शक्तियों को, जन्म देती है। सर्वप्रथम, ऐसा अनुभव होता है कि जो कुछ पहले असह्य था वह अब सुसह्य हो जाता है; जो शक्ति आघात का सामना करती है उसका आदर्शमान ऊँचा हो जाता है; तब अप्रिय प्रतिक्रियाओं के सरगम में कष्ट, वेदना, शोक, घृणा या अन्य किसी स्वर को उत्पन्न करने के लिए आघात को अपनी या अपने सुदीर्घ संस्पर्श की नित अधिकाधिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। दूसरे, ऐसा अनुभव होता है कि सचेतन प्रकृति अपने को दो भागों में विभक्त कर लेती है। उनमें से एक तो है सामान्य मानसिक और भावप्रधान प्रकृति जिसमें अभ्यस्त प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं। दूसरा है उच्चतर संकल्प-शक्ति एवं बुद्धि। वह इस निम्नतर प्रकृति के आवेश का निरीक्षण करती है और उससे चलायमान या प्रभावित नहीं होती, उसे अपनी चीज़ नहीं मानती। वह उसे न तो स्वीकृति एवं अनुमति प्रदान करती है और न ही उसमें भाग लेती है। तब निम्नतर प्रकृति अपनी प्रतिक्रियाओं की शक्ति-सामर्थ्य को खोकर उच्चतर बुद्धि और संकल्प की स्थिरता और शक्ति के सुझावों के अधीन होने लगती है, और धीरे-धीरे वह स्थिरता एवं शक्ति मानसिक और भावुक, यहाँ तक कि संवेदनप्रधान, प्राणिक और भौतिक सत्ता पर भी अधिकार कर लेती है। यह अवस्था तीसरी शक्ति एवं परिणाम को उत्पन्न करती है, निम्न प्रकृति के प्रति इस सहिष्णुता तथा उसके ऊपर प्रभुता के द्वारा, उससे इस प्रकार के पार्थक्य तथा उसके परित्याग के द्वारा, सामान्य प्रतिक्रियाओं से मुक्त होने की और यहाँ तक कि, यदि हम चाहें तो, आत्म-बल के द्वारा अपने सब प्रकार के अनुभवों को फिर से ढालने की शक्ति प्रदान करती है। यह विधि अप्रिय ही नहीं बल्कि प्रिय प्रतिक्रियाओं पर भी प्रयुक्त की जाती है; अन्तरात्मा अपने-आपको उनके हाथों में सौंप देने या उनके द्वारा बहा लिये

जाने से इनकार करती है; जो संस्पर्श हर्ष और सुख लाते हैं उन्हें वह शान्ति के साथ भोगती है; उनके द्वारा उद्वेलित होने से इनकार करती है और प्रिय वस्तुओं से मन को जो हर्ष प्राप्त होता है तथा उनके लिए उसमें जो आतुर चाह होती है उनके स्थान पर आत्मा की शान्ति को स्थापित करती है। इस विधि का प्रयोग चिन्तनात्मक मन पर भी किया जा सकता है, अर्थात्, इसके द्वारा मन ज्ञान को और उसके सीमित रूप को शान्तिपूर्वक ग्रहण कर सकता है, वह इस एक आकर्षक विचार-प्रेरणा की मोहकता की तरंग में बह जाने से अथवा उस दूसरी अनभ्यस्त या अरुचिकर विचार-प्रेरणा से घृणावश दूर हटने से इनकार करता है और अनासक्त साक्षी-भाव के साथ सत्य की प्रतीक्षा करता है। वह साक्षी-भाव शक्तिशाली, निष्काम और प्रभुत्वपूर्ण संकल्प तथा बुद्धि के आधार पर सत्य को विकसित होने देता है। इस प्रकार अन्तरात्मा धीरे-धीरे सब वस्तुओं के प्रति समत्वपूर्ण तथा अपनी स्वामिनी बन जाती है; वह मन की सबल प्रतिरोध-शक्ति तथा आत्मा की अचलायमान शान्ति और गभीरता के साथ जगत् के स्पर्शों का सामना करने में समर्थ हो जाती है।

दूसरा मार्ग तटस्थ उदासीनता की वृत्ति का है। इसकी विधि है—पदार्थों के आकर्षण या विकर्षण को एक ही साथ त्याग देना, उनके प्रति एक प्रकाशमय अविकार्य अवस्था का, उनका निषेध करने वाली एक परित्याग-वृत्ति का तथा उनसे सम्बन्ध-विच्छेद करने एवं उनका प्रयोग न करने के अभ्यास का विकास करना। यह वृत्ति जितना ज्ञान का आश्रय लेती है उतना संकल्प-शक्ति का नहीं लेती, यद्यपि संकल्प-शक्ति भी सदैव आवश्यक होती है। यह एक ऐसी वृत्ति है जो मन के इन आवेशों को बाह्य मन के भ्रम से उत्पन्न वस्तुओं के रूप में देखती है अथवा यह इन्हें एक ही सम आत्मा के शान्त सत्य के अयोग्य हीन गतियों के रूप में या फिर तत्त्वज्ञानी की शान्त द्रष्ट्री संकल्प-शक्ति और आकर्षण-शून्य बुद्धि के द्वारा त्याग देने-योग्य प्राणिक और भावुक विक्षोभ के रूप में देखती है। यह मन में से कामना को निकाल फेंकती है, जो अहं-भाव वस्तुओं पर इन द्वन्द्वात्मक मूल्यों को थोपता है उसे त्याग देती है, और कामना के स्थान पर तटस्थ एवं उदासीन शान्ति को तथा अहंकार के स्थान पर शुद्ध आत्मा को प्रतिष्ठित करती है। वह शुद्ध आत्मा जगत् के आघातों से अशान्त, उत्तेजित या विचलित नहीं होती। और इस प्रकार केवल भावप्रधान मन ही शान्त नहीं होता बल्कि बौद्धिक सत्ता भी अज्ञान-भूमिका के विचारों को त्याग देती है और निम्न ज्ञान के पक्षपातों से ऊपर उठ कर एक ही सनातन एवं अपरिवर्तनशील सत्य को प्राप्त कर लेती है। यह मार्ग भी तीन परिणामों या शक्तियों का विकास करता है जिनके द्वारा यह शान्ति की ओर आरोहण करता है।

सर्वप्रथम, ऐसा अनुभव होता है कि मन जीवन के क्षुद्र सुखों और दु:खों से स्वेच्छापूर्वक ही बँधा हुआ है और वास्तव में, यदि आत्मा बाह्य और क्षणिक पदार्थों के द्वारा असहायवत् परिचालित होने के अपने अभ्यास को बस त्याग देना पसन्द कर ले तो, ये सुख-दु:ख मन पर कोई आन्तरिक प्रभुत्व नहीं प्राप्त कर सकते। दूसरे, ऐसा अनुभव होता है कि यहाँ भी निम्न या बाह्य मन, जो अभी तक पुराने अभ्यस्त स्पर्शों के अधीन है, और उच्चतर बुद्धि तथा

संकल्प-शक्ति जो आत्मा की उदासीन शान्ति में निवास करने के लिए पीछे की ओर अवस्थित हैं—इन दोनों के बीच विभाजन या मनोवैज्ञानिक पृथक्करण किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, एक आन्तरिक तटस्थ शान्ति, जो निम्न करणों के विक्षोभ का निरीक्षण करती है पर उसमें भाग नहीं लेती और न उसे किसी प्रकार की अनुमति ही देती है, हमारे ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करती जाती है। आरम्भ में उच्चतर बुद्धि और संकल्प-शक्ति प्रायः आच्छादित और आक्रान्त हो सकती हैं, मन निम्न अंगों की उत्तेजना के द्वारा खींच ले जाया जाता है, पर अन्त में यह शान्ति अजेय और चिरस्थायी बन जाती है, यह उग्र से उग्र स्पर्शों के द्वारा भी चलायमान नहीं होती, **न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते**। यह शान्तियम आन्तरिक आत्मा बाह्य मन के विक्षोभ को अनासक्त उच्चता की स्थिति से देखती है अथवा यह उसे एक ऐसे क्षणिक और अलिप्त अनुग्रह के साथ देखती है जो एक बालक के क्षुद्र हर्षों और शोकों के प्रति प्रकट किया जा सकता है, यह उन्हें अपनी सत्ता के अंगभूत या किसी स्थिर वास्तविकता पर आधारित नहीं मानती। और अन्त में बाह्य मन भी इस स्थिर और उदासीन प्रशान्ति को क्रमशः स्वीकार कर लेता है; वह जिन चीज़ों से आकृष्ट होता था उनसे आकृष्ट होना या जिन दुःख-कष्टों को मिथ्या महत्त्व देने का आदी था उनसे दुःखित होना छोड़ देता है। इस प्रकार एक तीसरी शक्ति प्राप्त होती है जो विशाल स्थिरता और शान्ति की सर्वव्यापक शक्ति होती है, हमारी आरोपित, अवास्तविक और आत्मपीड़क प्रकृति के घेरे से मुक्ति का आनन्द-रूप होती है, सनातन और अनन्त ब्रह्म के संस्पर्श का गम्भीर, अविचल और निरतिशय सुख होती है जो अपनी नित्यता के द्वारा अनित्य पदार्थों के संघर्ष और उपद्रव का स्थान ले लेता है, **ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तं सुखम् अश्नुते**। अन्तरात्मा आत्मा के आनन्द में स्थिर रूप से स्थित हो जाती है, **आत्मरतिः**, परमात्मा के अखण्ड और अनन्त आनन्द में प्रतिष्ठित हो जाती है और पहले की तरह बाह्य स्पर्शों तथा उनके दुःखों और सुखों का पीछा नहीं करती। वह जगत् को एक ऐसे खेल या अभिनय के दर्शक के रूप में ही देखती है जिसमें वह भाग लेने के लिए अब और बाध्य नहीं होती।

तीसरा मार्ग प्रणति का है। वह प्रणति या तो ईसाई-धर्मवालों की प्रणति हो सकती है जो ईश्वरेच्छा के प्रति अधीनता पर प्रतिष्ठित होती है, या वह सब वस्तुओं और घटनाओं को वैश्व संकल्प-शक्ति की कालगत अभिव्यक्ति मानते हुए उनकी निरहंकार स्वीकृति हो सकती है, या फिर भगवान् अथवा परम पुरुष के प्रति व्यक्ति का पूर्ण समर्पण-रूप हो सकती है। जैसे पहला मार्ग संकल्प-शक्ति का मार्ग था और दूसरा ज्ञान एवं बोधशील बुद्धि का, वैसे ही यह भावमय प्रकृति और हृदय का मार्ग है और भक्ति के सिद्धान्त के साथ अत्यन्त घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। यदि इसे अन्तिम छोर तक ले जाया जाये तो यह भी पूर्ण समता के इसी परिणाम तक पहुँचता है। क्योंकि, अहं की गाँठ ढीली हो जाती है और वैयक्तिक माँग दूर होने लगती है, हमें अनुभव होता है कि अब हम प्रिय वस्तुओं से मिलने वाले हर्ष या अप्रिय वस्तुओं से होने वाले दुःख के साथ बँधे हुए नहीं हैं; हम उन्हें उत्सुकतापूर्ण स्वीकृति या क्षोभमय परित्याग के बिना सहन करते हैं, उन्हें अपनी सत्ता के प्रभु के सुपुर्द कर देते हैं, हमारे लिए उनका जो वैयक्तिक

परिणाम होता है उससे उत्तरोत्तर कम-से-कम मतलब रखते हैं और केवल एकमात्र महत्त्वपूर्ण वस्तु को पकड़े रहते हैं। वह वस्तु है भगवान् को प्राप्त करना, अथवा विराट् और अनन्त सत्ता के साथ सम्पर्क और एकस्वरता प्राप्त करना, या भगवान् के साथ एकीभूत होना, उनकी प्रणालिका एवं उनका यन्त्र, सेवक और प्रेमी बनना, उनमें तथा उनके साथ अपने सम्बन्ध में आनन्द लेना और हर्ष या शोक का और कोई विषय या कारण न रखना। यहाँ भी कुछ समय के लिए अभ्यस्त आवेशोंवाले निम्न मन और प्रेम एवं आत्मदान करने वाले उच्चतर चैत्य मन के बीच विभाजन हो सकता है, पर अन्ततोगत्वा निम्न मन वश में हो जाता है, परिवर्तित और रूपान्तरित हो जाता है, भगवान् के प्रेम, आह्लाद और आनन्द में विलीन हो जाता है तथा अन्य कोई स्वार्थ या आकर्षण उसमें नहीं रह जाते। तब अन्दर सब कुछ उस एकत्व की सम शान्ति एवं उसका आनन्द ही होता है, वह एकमेव प्रशान्त आनन्द जो बुद्धि से परे है, वह शान्ति जो हमारी आध्यात्मिक सत्ता की गहराइयों में निम्नतर वस्तुओं के आमन्त्रण से अछूती रहती है।

ये तीन मार्ग अपने पृथक्-पृथक् बिन्दुओं से आरम्भ होकर भी एक ही बिन्दु पर आकर मिल जाते हैं। इसका पहला कारण तो यह है कि ये बाह्य वस्तुओं के प्रति, **बाह्यान् स्पर्शान्,** मन की सामान्य प्रतिक्रियाओं का निषेध करते हैं, दूसरा यह है कि ये अन्तरात्मा या आत्मा को प्रकृति के बाह्य व्यापार से पृथक् करते हैं। परन्तु यह स्पष्ट ही है कि यदि हम एक अधिक सक्रिय समता प्राप्त कर सकें तो हमारी पूर्णता अधिक महान् होगी, अधिक सर्वग्राही रूप में पूर्ण होगी, क्योंकि वह समता हमें जगत् से पीछे हटने या अनासक्त और तटस्थ शान्ति के साथ उसका सामना करने में ही समर्थ नहीं बनायेगी, बल्कि उसकी ओर साहसपूर्वक लौट कर शान्त और सम आत्मा की शक्ति के द्वारा उसे अधिकृत करने की सामर्थ्य भी प्रदान करेगी। ऐसी समता प्राप्त करना सम्भव है क्योंकि जगत्, प्रकृति और कर्म वास्तव में कोई सर्वथा पृथक् वस्तु नहीं हैं, बल्कि आत्मा, विराट् पुरुष एवं भगवान् की एक अभिव्यक्ति हैं। सामान्य मन की प्रतिक्रियाएँ उन दिव्य मूल्यों का एक हीन रूप हैं जो इस हीन रूप के अभाव में इस सत्य को हमारे सामने प्रकट कर देते,—ये एक मिथ्या रूप अथवा अज्ञान हैं जो उनकी क्रियाओं को बदल देता है, एक ऐसा अज्ञान है जो अन्ध जड़ निर्ज्ञान के अन्दर आत्मा के निवर्तित होने से उद्भूत होता है। एक बार जब हम आत्मा अथवा भगवान् की परिपूर्ण चेतना में लौटते हैं, तब हम वस्तुओं का सच्चा दिव्य मूल्य प्रदान कर सकते हैं और परम आत्मा की शान्ति, आनन्द, ज्ञान और सर्वदर्शी संकल्प के साथ उन्हें ग्रहण कर सकते तथा उन पर क्रिया कर सकते हैं। जब हम ऐसा करने लग जाते हैं, तब अन्तरात्मा जगत् में सम आनन्द लेने लगती है, सब शक्तियों के साथ व्यवहार करने वाली सम संकल्प-शक्ति तथा एक ऐसे सम ज्ञान को प्राप्त करने लगती है जो इस दिव्य अभिव्यक्ति के सभी दृग्विषयों के पीछे अवस्थित आध्यात्मिक सत्य को अधिकृत कर लेता है। वह जगत् को भगवान् की ही भाँति अनन्त प्रकाश, बल और आनन्द की पूर्णता के साथ अधिकृत कर लेती है।

CWSA खण्ड २४, पृ. ७०९-१५ **श्रीअरविन्द**

मोद स्मिथ के साथ श्रीमाँ का पत्र-व्यवहार

(३)

१७ मई १९१० को अमरीका में जन्मीं मोद स्मिथ ने २५ मार्च १९५३ को ४२ वर्ष की उम्र में आश्रम में प्रवेश किया। पहले उन्होंने आश्रम के पुस्तकालय में काम किया, उसके बाद 'World Union' नामक त्रैमासिक पत्रिका का कार्य-भार सँभाला। १९६५ में श्रीमाँ ने उन्हें आश्रम की पुस्तकों के भण्डार का कार्य सौंपा। इसी समय वे पत्रिका की मैनेजर भी बन गयीं। मोद आश्रम में ४८ वर्ष—मृत्यु-पर्यन्त—रहीं। ३० दिसम्बर १९९१ में ८१ वर्ष की अवस्था में उन्होंने शरीर छोड़ा। श्रीमाँ के साथ मोद का पत्र-व्यवहार १९५५ से १९७० के बीच हुआ।

दयालु भगवती माँ,

अब मेरे लिए यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि अगर 'एकमेव' के सिवाय वास्तव में और कुछ नहीं है, अगर हमारे सभी ऊपर से दीखने वाले पृथक् अस्तित्व और क्रियाएँ केवल प्रतीति या आभास हैं, तब तो 'वर्ल्ड यूनियन' के लिए कोई भी प्रभावकारी कार्य करने से पहले यह एकदम से अनिवार्य है कि हम आभासी चेतना से निकल कर 'दूसरी ओर', 'वास्तविकता' में चले जायें।

तब तक हमारे सभी मनोभाव, हमारी वाचा, हमारी योजना और हमारे सम्बन्ध ऊपरी सतह के तथा बनावटी हैं। यहाँ तक कि 'भगवान्' के लिए कार्य करने की कामना और एक होने की आकांक्षा भी उसी पृथक्कारी चेतना के वही समान मिथ्या परिणाम हैं। और हम जो भी कार्य करें वह अपने-आपमें अधिक मायने नहीं रखेगा।

अत:, 'दूसरी ओर' जाने के लिए, 'वास्तविकता' में जीने के लिए, अपने पृथक् स्व-पन को उस 'सत्ता' की विशाल गति में खो देना जो 'एकमेव' को अभिव्यक्त करती है—केवल यही चीज़ है जो अभी वर्तमान में मेरे लिए कोई महत्त्व या मूल्य रखती प्रतीत होती है।

माँ, क्या यह सच है? अगर है, तो उस पार शीघ्र पहुँच पाने के लिए मैं क्या कर सकती हूँ?

'एकमेव' की चेतना में अधिकाधिक जिओ और 'उसे' [१] ही अपनी दैनिक क्रियाओं का पथ-प्रदर्शन करने दो; हम सर्वोत्तम यही कर सकते हैं—एक ही साथ अपने लिए और जगत् के लिए भी।

सप्रेम। ९ जनवरी १९६४

[१] माँ ने 'एकमेव' और ' उसे ' शब्दों के नीचे लकीर खींच दी और उन दोनों को जोड़ती हुई एक रेखा बना दी।

माँ,

सारी रात मैं 'र' के साथ थी जो बहुत बीमार थी। प्रायः सारे समय मैं लेटी हुई थी, लेकिन सवेरे ४ से ६ के सिवाय मैं रात भर सो न पायी। फिर भी, केवल २ घण्टों की नींद के बावजूद मैं और दिनों की तुलना में कम थकी हुई थी और दोपहर को उनींदी भी इतनी न थी। क्या इसका इस तथ्य से सम्बन्ध हो सकता है कि सारी रात मैं 'शान्ति' को पुकारती रही थी। या फिर आप 'र' की सहायता के लिए जो शक्ति भेज रही थीं उससे मुझे भी बल मिला?

हाँ, स्पष्ट रूप से, जो 'शक्ति' उसे नीरोग करने के लिए भेजी गयी थी उसे तुमने भी भली-भाँति ग्रहण किया।

या फिर मुझे उतनी नींद की ज़रूरत ही नहीं है जितनी कि हमेशा मैं सोचती थी कि है!

नहीं—कभी-कदास न सोना ठीक है, विशेषकर जब तुम 'शक्ति' में नहा रही हो, लेकिन अगर तुम इसकी आदत बना लोगी तो काम न चलेगा।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद।

५ फ़रवरी १९६४

कृपालु माँ,

मैं कृतज्ञ हूँ कि इतनी जल्दी मैं फिर से प्रायः तन्दुरुस्त महसूस कर रही हूँ, पहले के दिल के दौरों के बाद जो कमज़ोरी आ गयी थी वैसी इस बार नहीं है—केवल कभी-कभी हलका सिरदर्द होता है।

दो साल पहले पड़े दिल के दौरे के बाद मैंने 'अ' की नृत्य की कक्षाओं में बहुत रस लिया। और हाल ही में मैं अपनी कमज़ोर मांसपेशियों को मज़बूत बनाने के लिए 'फ़' की कसरत की कक्षाओं में जा रही हूँ। इतने सालों के बाद मेरी आशा जग रही है कि मेरा शरीर लालित्यपूर्ण, लोचदार और हर्ष से भरपूर हो जायेगा। लेकिन मैं समझ रही हूँ कि मुझे बहुत धीमे-धीमे और धीरज के साथ आगे बढ़ना है।

पिछले कुछ हफ़्तों से मेरे अन्दर हर्ष का एक प्रकार का असाधारण ज्वार-सा उठ रहा है, साथ ही यह कि शारीरिक दृष्टि से अब मैं दुरुस्त हूँ ऐसा भान भी जग रहा है। लेकिन अब तक मैं अपने-आपको थकाये बिना काम तथा व्यायाम करना नहीं सीख पायी हूँ। 'शक्ति' को अपने अन्दर प्रवेश करने देने का एक सरल तरीक़ा ज़रूर होगा। कृपया आप मुझे सिखायेंगी?

शुक्रवार को फिर से काम शुरू कर देना ठीक है न, जैसा कि चिकित्सक ने सुझाया है?

मेरी प्यारी बच्ची,

अपने शरीर की सम्भावना पर विश्वास और आशा रखो। लेकिन यह भी सीखो कि अपने-आपको थका कर पस्त न कर दो और साथ ही, मन के कम-से-कम हस्तक्षेप के साथ 'शक्ति' को शरीर के द्वारा सामञ्जस्यमय तरीक़े से कार्य करने दो।

जैसा कि चिकित्सक ने कहा है, तुम अपना काम आरम्भ कर सकती हो, लेकिन उसमें मेहनत ज़रा भी न लगे और एक दृढ़ आन्तरिक अचञ्चलता तथा शान्ति के साथ कार्य में लगी रहो।

मेरे समस्त प्रेम तथा आशीर्वादों के साथ।

३ मार्च १९६४

सभी चीज़ों में सरलता ही है सामञ्जस्य प्रकट करने का **सर्वोत्तम** तरीक़ा।

९ अप्रैल १९६४

माँ,

'वर्ल्ड यूनियन' के दफ़्तर की फिर से रँगाई करवाने के लिए क्या उन्हीं समान रंगों का प्रयोग करना ठीक है जो हमने उद्घाटन पर किये थे जब आप यहाँ पधारी थीं?

बाहर निस्सन्देह धूसर तथा सफ़ेद।

सभी आँगन सफ़ेद।

अन्दर—सफ़ेद दीवारें, हलकी नीली छतें, हलका नीला-धूसर लकड़ी का काम और एक दीवार और दरवाज़ा गाढ़ा नीला।

हम सौन्दर्य तथा सरलता के आपके आदर्श के साथ आगे बढ़ना चाहते हैं।

जितने कम विभिन्न रंग हों, उतनी ज़्यादा सरलता होती है!

आशीर्वाद।

१० जुलाई १९६४

दयालु माँ,

कुछ महीने पहले मुझे आश्चर्य हो रहा था कि हम आश्रम में और फल क्यों नहीं उगा सकते हैं, और इसमें सहायता देने के लिए मैं कुछ करने की तीव्रता से अभीप्सा कर रही थी। अब लगता है कि एक सीधा उत्तर आ गया।

क़रीब महीने-भर पहले मुझे अपने फल (आश्रमवासियों को नियमित रूप से फल मिलते हैं।) के थैले में 'आवोकाडो' (Butter fruit) मिला और मैंने उसके बीज रोप दिये। अब वह छोटा-सा सुन्दर पौधा बन गया है। मैंने 'र' से यह बात कही और अब वह उन सभी फलों के बीज मुझे दे दिया करता है जिन फलों को वह आपके लिए सुधारता है। मैंने क़रीब सौ बीजों को अपनी छत पर बालू और पानी में बो दिया है! कुछ में अंकुर फूट गये हैं। जब वे इतने बड़े हो जायेंगे कि उन्हें ज़मीन में दोबारा सुरक्षित रूप से रोपा जाये तब क्या मैं उन्हें 'लेक एस्टेट' भेज दूँ? कितना बढ़िया होगा जब हमारे पास इन पौष्टिक फलों का एक पूरा बग़ीचा होगा!

शाबाश! इस ख़ुशख़बर से मैं बहुत ही प्रसन्न हुई! अपने समस्त प्रेम के साथ मैं तुम्हारी और भावी बग़ीचे को फलने-फूलने में मदद करूँगी।

आशीर्वाद।

११ सितम्बर १९६४

माँ,

जब तक यह आपात्कालीन स्थिति चले तब तक मैं रोज़ शाम को घण्टा-भर 'नर्सिंग होम' में या सवेरे-सवेरे 'बेकरी' में सहायता करने में बहुत प्रसन्न होऊँगी— मैं इस बात का ध्यान रखूँगी कि हमेशा हड़बड़ी न करूँ और न ही अपने-आपको थकाऊँ!

तुम पहले से ही काफ़ी काम कर रही हो।

प्रेम और आशार्वादों के साथ।

३० सितम्बर १९६४

कृपालु माँ,

मेरा शरीर और मेरा मन बहुत थक गये हैं। जब तक मैं अपने-आपको थकाये बिना काम करना नहीं सीख लेती तब तक काम कैसे जारी रख सकती हूँ?

'वर्ल्ड यूनियन' के एक अंक का प्रेस से आना और उसी समय अगला अंक प्रेस भेजना, साथ ही, किताबों के भण्डार का पूरा लेखा-जोखा रखना, यह देखना कि सारा काम सहज तरीक़े से चले—और फिर शाम को कसरत के लिए जाना!

माँ, क्या आप मुझे यह नहीं सिखला सकतीं कि मैं अपने-आपको कैसे न थकाऊँ, कैसे प्रभु की उस शान्ति में निवास करूँ जिसके बारे में आपने मुझे मेरे

जन्मदिन पर कहा था?

कार्य के लिए आवेग अन्दर या ऊपर से आना चाहिये, बाहरी परिस्थितियों और इच्छाओं से **नहीं**। अगर 'वर्ल्ड यूनियन' पत्रिका का काम तुमको बहुत थका रहा है तो तुम्हें उसे **बन्द कर देना ही होगा**—कोई और उसकी ज़िम्मेदारी ले ले।

तुम्हें "किताबों के भण्डार" का काम सौंपा गया है और वही, केवल वही तुम अपने ऊपर ज़ोर डाले बिना कर सकती हो। जितने आराम की ज़रूरत हो लो और उस आराम का उपयोग अपने अन्दर गहराई में उतरने और वहाँ 'भागवत शान्ति' को पाने में करो।

प्रेम तथा आशीर्वाद।

३१ जनवरी १९६५

कृपालु तथा सुधन्या माँ,

बारह साल पहले आज के दिन मैं आश्रम आयी थी, और आज पहली बार आपने मुझे अन्दर जाने को कहा! कितना अधिक मैं चाहती थी, लेकिन कभी अन्दर जाने का कोई रास्ता, कोई दरवाज़ा नहीं दीखा। लगता है कि मेरे अन्दर कोई 'अन्दर' था ही नहीं।

अब जब कि आपने इसके बारे में कहा तो मुझे लग रहा है कि समय आ गया है। मैं जानती हूँ कि इसे सम्भव बनाने के लिए 'शक्ति' उपस्थित होगी। मुझे द्वार दिखला दीजिये माँ, मैं प्रार्थना करती हूँ, और अन्दर उतरने के लिए मेरा पथ-प्रदर्शन कीजिये।

द्वार खुला है। तुम्हें अन्दर क़दम-भर रखना है।

प्रेम। ३१ जनवरी १९६५

माँ,

यह पता लगाने का क्या कोई भी तरीक़ा है कि अन्दर कैसे जाया जाये? आप जिस द्वार के खुले होने की बात कह रही हैं उसे देखने या अनुभव करने या उसके बारे में अभिज्ञ होने का क्या कोई उपाय है?

जब तुम किसी कमरे या घर या मन्दिर में प्रवेश करना चाहती हो तो तुम देहली पार कर, अन्दर चली जाती हो न।

वही करो।

प्रेम। १७ अप्रैल १९६५

दयालु माँ,

मेरे जन्मदिन के बाद ऐसा लगा कि आपने मुझसे कहा : जब तुम मेरे पास थीं तब जिस तरह तुमने शान्त और उद्‌घाटित रहने की कोशिश की थी, ठीक वही चीज़ रोज़ दिन में पाँच मिनट के लिए उस समय करो जब तुम सबसे ज़्यादा ख़ुश हो। किसी परिणाम की आशा मत रखो। बस यह करो। यह तुम्हारे लिए अच्छा होगा। क्या यह सब आपसे आया?

हाँ।

मैं इसे करने में लगी हूँ, लेकिन अब तक बिना बाधा के पाँच मिनट तक नहीं कर पा रही हूँ।

कोशिश जारी रखो—कुछ समय बाद कोई चीज़ पनप सकती है।

प्रेम।

२७ मई १९६५

कृपालु भगवती माँ,

क्या मामला है? "पार जाने के लिए" मैं कोई अन्दर, कोई द्वार, कोई उद्‌घाटन नहीं पा रही। कोई ऐसी जगह नहीं है जहाँ जाकर मैं छिप सकूँ, आराम कर सकूँ या थोड़ी-सी शान्ति पा सकूँ।

कैसी बात है कि अब तक मैं अपनी साधना आपके सुपुर्द नहीं कर पा रही हूँ?

बहुत साल पहले जब मैंने आपसे कहा था कि मुझे ऐसा लग रहा है कि मैं कुछ भी नहीं कर पा रही हूँ, आपने मुझसे कहा था कि कभी-कभी यह अच्छा संकेत होता है, क्योंकि तब व्यक्ति समर्पण कर देता है और फिर सब कुछ सही हो जाता है। लेकिन अभी तक मैं समर्पण नहीं कर पा रही हूँ और सब कुछ ठीक नहीं चल रहा है। कभी-कभी महीनों मैं हँसी-ख़ुशी काम करती हूँ और इन चीज़ों के बारे में सोचती तक नहीं, लेकिन इससे भी कोई लाभ होता नहीं दीखता। यह चीज़ मुझे अभीप्सा करने, कोशिश करने, योग करने से विमुख कर देती है।

माँ, क्या करूँ मैं? कभी-कभी मुझे लगता है कि सब कुछ छोड़ दूँ—खाना-पीना, नींद, काम, कसरत—और बस तब तक पुकारती रहूँ, पुकारती रहूँ जब तक कि कोई दरार नहीं दीखती, कोई उद्‌घाटन नहीं हो जाता। जिस रवैये से मेरी ज़िन्दगी चल रही है वह मुझे कहीं नहीं पहुँचायेगा।

माँ, मेरी सहायता कीजिये, मैं प्रार्थना करती हूँ।

शायद अगर तुम "योग" करना बन्द कर दो और बस प्रसन्नतापूर्वक जिओ तो योग सहज-स्वाभाविक रूप से तुम्हारे पास आ जायेगा।...

हर हाल में, मेरा प्रेम तुम्हारे साथ है।

८ अक्तूबर १९६५

दयालु माँ,

मैं जो बाग़बानी करना चाहती हूँ उसे मेरे काम के घण्टों में बाधक नहीं बनना चाहिये। निस्सन्देह, मैं जो काम करती हूँ वह अपनी सम्भावनाओं में अनन्त है, जितना मैं करती हूँ हमेशा उससे कहीं अधिक किया जा सकता है। मैं प्रायः सोचती हूँ कि अपने काम में निष्ठावान् होने के लिए हम कोई और काम लेकर उसका औचित्य सिद्ध कर सकते हैं क्या? आपने कहा है कि अगर हम अपने काम को उचित मनोभाव के साथ करें तो मन बहलाने के लिए इधर-उधर फ़ुदकने की हमें ज़रूरत नहीं है, लेकिन यह सहजता आये कैसे?

सिद्धान्त रूप में तुम्हारी बाग़बानी से मुझे कोई एतराज़ नहीं है, यह बहुत ही बढ़िया और लाभदायक कार्य है। लेकिन अगर तुम अपने-आपको बहुत ज़्यादा थका दोगी तो मैं इसका बहुत ज़ोर से विरोध करूँगी, क्योंकि मुझे पता है कि दोनों में से किसी भी काम की तुम अवहेलना नहीं करोगी, और शायद दोनों तुम्हारे लिए बहुत ज़्यादा नहीं हो जायेंगे क्या?... कार्य में उचित मात्रा बहुत ज़रूरी होती है। तो केवल तुम ही अपने अनुभव से यह जान सकती हो कि उचित रूप में तुम कितना कर सकती हो।

मेरे समस्त प्रेम के साथ।

४ मई १९६६

दयालु माँ,

अगस्त के 'बुलेटिन' के आपके कथन से मैं पूरी तरह सहमत हूँ :

"अगर तुम योग को गम्भीरता से न लो तो तुम योग नहीं कर सकते। अगर तुम गम्भीर नहीं हो, तुम्हारे अन्दर पाँच मिनट तो अभीप्सा उठे फिर दस घण्टों तक तुम सामान्य बने रहो; एक दिन तुम्हारे अन्दर ख़ूब ललक हो फिर महीने-भर कुछ न हो, अगर ऐसा ही चलता रहे तो इन परिस्थितियों में तुम योग नहीं कर सकते। अगर तुम भूल जाओ और ढीले पड़ जाओ तो तुम योग नहीं कर सकते।"

लेकिन ठीक यही चीज़ है जो मैं करती हूँ—मैं भूल जाती और ढीली पड़ जाती हूँ! फिर भी आप मुझसे बार-बार कहती हैं : "चिन्ता मत करो, सब कुछ ठीक चल रहा है।" आपका कहना है कि बिलौटे का तरीक़ा अपनाना सबसे अच्छा है—

साधना की कोई भी ज़िम्मेवारी अपने ऊपर नहीं लेना—और बस मुझे प्रसन्नतापूर्वक जीना और काम करना चाहिये (मैं दोनों में से कोई भी चीज़ नहीं कर सकती)।

माँ, जब मैं ऐसी चीज़ें पढ़ूँ तो मुझे कैसी मनोवृत्ति अपनानी चाहिये?

और 'भागवत कृपा' के बारे में क्या कहोगी? क्या तुम सोचती हो कि वह बस यूँ ही निष्क्रिय बैठी हुई है?

अधिकतर लोगों को कार्य करना होता है, लेकिन कुछ को ले जाया जाता है और उनसे श्रद्धा और विश्वास रखने के लिए कहा जाता है।

प्रेम तथा आशीर्वादों के साथ।

१ सितम्बर १९६६

माँ,

मैंने जीवन में अधिकतर जो करने की आवश्यकता है या जो मैं करना चाहती थी वही करने के लिए अपने-आपको धकेला। लेकिन आपने मुझसे कहा कि मैं जो चाहूँ करूँ—जो पूरी तरह से असम्भव प्रतीत होता है। एक चीज़ के लिए, मेरे अन्दर के विभिन्न भाग विभिन्न तरीक़े आज़माना चाहते हैं और न ही मेरे अन्दर कभी ऐसा आवेग उठता है कि "यह चीज़ अन्दर से या ऊपर से आयी है", जैसा कि आपने कहा था कि वहीं से काम के लिए ललक तथा आवेग उठने चाहियें।

पिछले कुछ हफ़्तों से मेरा वज़न बहुत कम होता जा रहा है, और चूँकि मेरा खाना कम नहीं हुआ है, इसलिए मैं सोच रही हूँ कि शायद इसकी वजह यह हो कि मेरे शरीर को अधिक नींद या अधिक आराम की ज़रूरत है।

अगर मैं महीने-भर तक ठीक वही करने की कोशिश करूँ जैसा मैं करना चाहूँ तो क्या होगा? निश्चय ही मैं पुस्तकों के भण्डार का काम पहले की तरह करूँगी, लेकिन बाक़ी सब कुछ—दूसरे काम, ग्रुप की कसरत, बाग़बानी, चित्रकारी, व्यक्तिगत कार्य—जब जैसा और जो कुछ करने की इच्छा होगी वही करूँगी, अपनी सत्ता के एक भाग को दूसरे भाग पर हावी नहीं होने दूँगी। जब तक चैत्य अपना अधिकार नहीं जमा लेता, तब तक ऐसा करना सम्भव है क्या?

क्या मैं इसे परीक्षण के रूप में करूँ? और क्या आप मुझे रास्ता सुझायेंगी?

मैं *शरीर की* भावना की बात नहीं कर रही, बल्कि चैत्य-भावना की बात कर रही हूँ जो मन की अपेक्षा अधिक समझदार होती है।

प्रेम तथा आशीर्वाद।

३० अक्तूबर १९६६

माँ,

आज मेरी गरदन की परीक्षा करने के बाद चिकित्सक ने कहा कि मेरी कोहनी के दर्द का सच्चा कारण उम्र की वजह से हड्डियों का कमज़ोर पड़ जाना है। उन्होंने 'डायाथर्मी उपचार', यानी गर्मी उत्पन्न करने के लिए 'शॉर्ट वेव' लेने और कुछ कसरतें करने का सुझाव दिया है। लेकिन यह दो या तीन हफ़्तों तक, हर हफ़्ते सुबह तीन दिन करना होगा, और मैं किताबों के भण्डार के काम से इतनी छुट्टी नहीं लेना चाहूँगी।

माँ, निश्चय ही यह सब ज़रूरी नहीं है न? अगर रोग सत्ता के विभिन्न भागों के असन्तुलन से हुआ है तो वह 'डायाथर्मी उपचार' से कैसे ठीक हो सकता है? और अगर स्वास्थ्य शान्ति को पुकारने की क्षमता और शाश्वतता की शान्ति में निवास करने पर निर्भर करता है तो वह आप मुझे सिखलायेंगी, चिकित्सक नहीं। नीरोग होने के लिए मैं आपकी 'कृपा' और 'शक्ति' पर निर्भर होना कहीं अधिक पसन्द करूँगी। मैं अपने-आपको पूरी तरह आपके हाथों सौंपती हूँ।

जो तुम कह रही हो वह **एकदम सच** है। मैं पूरी तरह से इसका समर्थन करती हूँ और इसमें तुम्हें पूरे-पक्के तौर पर सहयोग दूँगी।

प्रेम तथा आशीर्वादों के साथ।

२९ नवम्बर १९६६

माँ,

'ए.बी.' ने मुझसे पूछा है कि क्या मैं 'वर्ल्ड यूनियन' की एक उपाध्यक्षा बनना चाहूँगी?

तुम्हारे लिए यह भार उठाने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं दीखती।

अमरीका के अपने अनुभवों के बाद से जगत् को बदलने के लिए मेरे अन्दर ऐसे संगठनात्मक प्रस्तावों पर अब कोई ज़्यादा विश्वास नहीं रहा, हाँ, चेतना का परिवर्तन हो जाये तो बात अलग है।

साढ़े सोलह आने सही!

जहाँ तक मुझे मालूम है, 'ए.बी.' को कोई उपाध्यक्ष मिल गया है और सब ठीक है!

प्रेम तथा आशीर्वादों के साथ।

२९ जुलाई १९६७

माँ,

बहुधा हम चेतना में एक छोटा क़दम आगे बढ़ाने की बात सुनते हैं जिससे सब कुछ बदल जाता है। क्या इसका कोई तरीक़ा है जिसे अपना कर मैं सचेतन बन जाऊँ?

सर्वोत्तम तरीक़ा है—अपने-आपको अचेतन रूप से कुछ भी करने की अनुमति न देना... लेकिन! अगर तुम यह करने की ज़रा-सी भी कोशिश करो तो यह चीज़ सहायता देगी।
प्रेम।

१२ मई १९६८

माँ,

कुछ हफ़्तों से मेरा हाज़मा बिगड़ा हुआ है, बीच-बीच में सिरदर्द होता है और चक्कर भी आते हैं। डॉ.'स' का कहना है कि इसके दो कारण हो सकते हैं: ख़ून की कमी या बड़ी अन्तड़ियों में सूजन जो शायद बहुत समय से हो। ख़ून की कमी के लिए वे आइरन की गोलियाँ लेने का सुझाव दे रहे हैं और अन्तड़ियों की सूजन के लिए वे मुझे एक दवाई देंगे।

अब तक, जब-जब मेरे शरीर में कोई रोग आया है, हमेशा आपकी 'कृपा' से मैं उसमें से निकल आयी हूँ। अतः, शायद मैं विश्वास कर सकती हूँ कि इस बार भी मैं ठीक हो जाऊँगी, और आइरन की गोलियों के सिवाय और कोई दवाई भी लेने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी न?

अपना विश्वास बनाये रखो और आइरन की गोलियाँ ले लो।
प्रेम तथा आशीर्वादों के साथ।

१९ जनवरी १९७०

एकमेव में दो

एक ही चेतना

श्रीमाँ की चेतना और मेरी चेतना के बीच का विरोध पुराने दिनों का आविष्कार था (जिसका कारण मुख्यतया 'क्ष', 'त्र' तथा उस समय के अन्य व्यक्ति थे)। यह विरोध उस समय पैदा हुआ जब आरम्भ में यहाँ रहने वाले लोगों में से कुछ श्रीमाँ को पूर्ण रूप से नहीं पहचानते थे या उन्हें स्वीकार नहीं करते थे। और फिर उन्हें पहचान लेने के बाद भी वे इस निरर्थक विरोध पर अड़े रहे और उन्होंने अपने-आपको और दूसरों को बड़ी हानि पहुँचायी। श्रीमाँ की और मेरी चेतना एक ही है, एक ही भागवत चेतना दोनों में है, क्योंकि लीला के लिए यह आवश्यक है। श्रीमाँ के ज्ञान और उनकी शक्ति के बिना, उनकी चेतना के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति सचमुच उनकी चेतना को अनुभव करता है तो उसे जानना चाहिये कि उसके पीछे मैं उपस्थित हूँ, और यदि वह मुझे अनुभव करता है तो वैसे ही श्रीमाँ भी मेरे पीछे उपस्थित होती हैं। यदि इस प्रकार भेद किया जाये (उन लोगों के मन इन चीज़ों को इतने प्रबल रूप में जो आकार दे देते हैं उन्हें तो मैं एक ओर ही छोड़े देता हूँ), तो भला सत्य अपने-आपको कैसे स्थापित कर सकता है—सत्य की दृष्टि से ऐसा कोई भेद नहीं है।

१३ नवम्बर १९३४

एक ही शक्ति

क्या आपके कार्य तथा श्रीमाँ के कार्य में कोई अन्तर है——मेरा मतलब है कि शक्ति की प्रभावकारिता में क्या कोई अन्तर है?

नहीं, यह एक ही शक्ति है। २३ मई १९३३

*

निस्सन्देह तुम्हारा यह कहना सही है कि हम एक हैं और जो दिया जाता है वह हम दोनों की ओर से होता है। अगर मैं दूँ तो उसके साथ श्रीमाँ की शक्ति भी होती है, अन्यथा साधक कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकेगा, और अगर श्रीमाँ देती हैं तो मेरा सहारा उसके साथ होता है और उसके साथ मेरा तथा श्रीमाँ का प्रकाश भी होता है। यह एक अविभाज्य क्रिया के दो पहलू हैं, एक पहलू दूसरे को अपने अन्दर समाये रखता है। श्रीमाँ की शक्ति ही आगे बढ़ाती है, साथ ही उनकी शान्ति भी बनी रहती है। १६ जुलाई १९३६

व्यक्ति को जो कुछ श्रीमाँ से प्राप्त होता है, वह मुझसे भी प्राप्त होता है—कोई भेद नहीं है। उसी तरह, अगर मैं कुछ देता हूँ तो वह साधक के पास श्रीमाँ की शक्ति के द्वारा जाता है।

२० अगस्त १९३६

एक ही पथ

संसार में कुछ अदिव्य है, एक ऐसा भाग है जो अन्धकारमय प्रतीत होता है; मैंने श्रीमाँ से कहा कि श्रीमाँ के प्रकाश द्वारा यहाँ एक सत्य अभिव्यक्त होता है। एक और सत्य श्रीअरविन्द के प्रकाश द्वारा अभिव्यक्त होता है। ये दोनों दो अलग-अलग मार्ग हैं और लगता है कि एकदम दो छोरों पर स्थित हैं, लेकिन फिर भी कहीं ऊपर जाकर मिल जाते हैं।

अगर तुम ऐसे अजीबोग़रीब और ग़लत विचारों के शिकंजे में अपने-आपको फँसे रहने की अनुमति देते रहोगे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि क्यों तुम अस्तव्यस्तता के घेरे में बन्द रहते हो और कोई भी स्थायी प्रगति करने में क्यों हमेशा कठिनाई का अनुभव करते हो।

माताजी की चेतना भागवत 'चेतना' है और उससे जो 'प्रकाश' निकलता है वह भागवत सत्य का प्रकाश है; वे जिस 'शक्ति' को नीचे उतार रही हैं वह भागवत 'सत्य' की शक्ति है। जो माताजी के प्रकाश को ग्रहण करता और स्वीकार करता तथा उसी में निवास करता है, वह सभी स्तरों पर—मानसिक, प्राणिक और भौतिक पर—सत्य को देखना प्रारम्भ कर देगा। जो कुछ अदिव्य है उसका वह त्याग कर देगा; अदिव्य है—मिथ्यात्व, अज्ञान, अन्धकारमयी शक्तियों का प्रमाद; वह सब अदिव्य है जो धुँधला है, जो श्रीमाँ के 'सत्य', उनके प्रकाश और उनकी शक्ति को मानने को अनिच्छुक है। इसी कारण मैं तुमसे हमेशा कहता हूँ कि श्रीमाँ के तथा उनके 'प्रकाश' और उनकी 'शक्ति' के साथ सतत सम्पर्क में बने रहो, क्योंकि तभी तुम अस्तव्यस्तता और अन्धकार से बाहर निकल कर उस 'सत्य' को पा सकते हो जो ऊपर से उतरता है।

जब हम एक विशेष अर्थ में माताजी के 'प्रकाश' अथवा मेरे 'प्रकाश' की चर्चा करते हैं, हम एक विशेष गुह्य क्रिया की बात कर रहे होते हैं—हम अमुक ज्योतियों की बात करते हैं जो अतिमानस से आती हैं। इस क्रिया में माताजी का सफ़ेद 'प्रकाश' होता है जो पवित्र करता, ज्योतित करता, 'सत्य' के समस्त सारतत्त्व और शक्ति को उतार लाता है और रूपान्तर को सम्भव बनाता है। वस्तुतः जो भी सत्य ऊपर से अवतरित होता है, उच्चतम भागवत 'सत्य' से आता है, वह माताजी का ही सत्य है।

श्रीमाँ के पथ और मेरे पथ में कोई अन्तर नहीं है। हमलोगों का पथ एक है और हमेशा एक ही रहा है, वह पथ जो अतिमानसिक रूपान्तर और भागवत सिद्धि की ओर ले जाता है।

न केवल अन्त में, बल्कि आरम्भ से ही एक ही पथ रहा है।

इस तरह के विभाजन और विरोध को रखने का प्रयास करना, यानी श्रीमाँ को एक ओर और मुझे दूसरी ओर—एकदम विपरीत या एकदम भिन्न तरफ़—रखना, यह तो हमेशा 'मिथ्यात्व' की शक्तियों की चालाकी रही है जब वे किसी साधक को सत्य तक पहुँचने से रोकना चाहती हैं। अपने मन से इन सभी मिथ्यात्वों को निकाल बाहर करो।

यह जानो कि श्रीमाँ का प्रकाश और शक्ति 'सत्य' का प्रकाश और शक्ति हैं; हमेशा श्रीमाँ के प्रकाश और शक्ति के सम्पर्क में बने रहो, तभी तुम भागवत सत्य में विकसित हो सकते हो।

१० सितम्बर १९३१

*

मैं पूछना चाहता हूँ कि क्या श्रीमाँ का विचार भगवान् के विचार के समान है। मेरा विचार था कि जिसे हम 'श्रीअरविन्द का प्रकाश' या 'अतिमानसिक प्रकाश' कहते हैं वह हमें 'भगवान्' की उपलब्धि की ओर ले जाता है, जब कि माँ की उपलब्धि का अर्थ है, परम 'चेतना' की उपलब्धि प्राप्त करना, जो साथ-साथ चलती है, लेकिन बाद में अपना पृथक् रूप भी ले लेती है। अगर 'एकमेव' की अनुभूति होना माँ की अनुभूति होना है तब क्या श्रीअरविन्द का 'प्रकाश' किसी भिन्न वस्तु की ओर ले जाता है, जैसे उपनिषदों के आदर्शों की ओर—'पुरुष' इत्यादि की उपलब्धि का होना? ये भेद कभी एक होते नहीं दीखते।

मैंने पहले भी लिखा है कि माँ और मेरे बीच भेद करना और यह कहना कि हमारे भिन्न पथ हैं या हमारे भिन्न लक्ष्य हैं—एकदम से भ्रान्तिपूर्ण है। हमारा पथ समान है; हमारा लक्ष्य भी समान है—वह है, अतिमानसिक भगवान्।

२४ फ़रवरी १९३२

*

श्रीअरविन्द के बारे में जानने या उनसे मिलने से पूर्व श्रीमाँ योग कर रही थीं, और उनकी साधना की रूप-रेखाएँ स्वतन्त्र रूप से किन्तु एक ही नीति का अनुगमन कर रही थीं। जब वे मिले तब उन्होंने साधना को पूर्ण बनाने में एक-दूसरे की सहायता की। जिसे श्रीअरविन्द का योग कहा जाता है वह श्रीअरविन्द और श्रीमाँ का संयुक्त सृजन है। वे अब पूर्ण रूप से तदात्म हैं—आश्रम में साधना तथा समस्त व्यवस्था सीधे श्रीमाँ के द्वारा की जाती है, श्रीअरविन्द पीछे से उन्हें अवलम्ब देते हैं। जो यहाँ योग-साधना के लिए आते हैं उन सबको श्रीमाँ को आत्म-समर्पण करना पड़ता है, और वे हमेशा उनकी सहायता करती हैं तथा उनके आध्यात्मिक जीवन का निर्माण करती हैं।

कोई हीनतर या कोई महानतर नहीं है

मैं भगवान् को आत्मा के रूप में हर जगह देखता हूँ, और वे मुझे अपनी ओर खींचते रहते हैं। वे सबकी आत्मा और सबके स्वामी हैं। मुझे लगता है कि वे श्रीमाँ से महानतर हैं। मुझे लगता है कि वे वह भगवान् हैं जिसने मेरे पिता—श्रीअरविन्द—में मूर्त रूप ले लिया है।

यह भगवान् का एक पहलू है—लेकिन आत्मारूपी भगवान् और प्रभु तथा माँ के रूप में भगवान् एक ही हैं—कोई हीनतर या कोई महानतर नहीं है। ३१ मार्च १९३४

*

यहाँ पर कुछ लोग आपको माताजी से महानतर क्यों मानते हैं? क्या आप दोनों समान स्तर से नहीं हैं? क्या मनुष्य की आँखों पर एक परदा नहीं पड़ा है जो इस तरह के भेद करता है?

ये वे मन हैं जो केवल सतही चीज़ों को देखते हैं और उनके पीछे क्या है यह नहीं देख पाते। २८ मार्च १९३५

दो शरीरों में एक

माताजी और मैं एक ही हैं पर दो शरीरों में; यह आवश्यक नहीं है कि दोनों शरीर सदा एक ही काम करें। इसके विपरीत, क्योंकि हम एक ही हैं, एक का ही हस्ताक्षर करना बिलकुल पर्याप्त है, जिस प्रकार प्रणाम ग्रहण करने या ध्यान कराने के लिए एक का ही नीचे जाना सर्वथा पर्याप्त है।

*

मैं और श्रीमाँ एक और समान हैं। और साथ ही वे यहाँ परमा हैं और उनका अधिकार है कि वे कार्य के लिए जो उत्तम समझती हैं उस तरह कार्य की व्यवस्था करें। वे जो भी कार्य दें उस पर किसी को अपना अधिकार जमाने, किसी भी तरह का दावा करने या अपना स्वामित्व जताने का हक नहीं। आश्रम माँ की सृष्टि है और उनके बिना इसका कभी अस्तित्व नहीं होता। वे जो कार्य कर रही हैं वह उनका अपना सर्जन है, उन्हें वह दिया नहीं गया है और उनसे वह लिया नहीं जा सकता। अगर तुम्हारे अन्दर श्रीमाँ के साथ उचित सम्बन्ध बनाने और उनके प्रति उचित मनोवृत्ति रखने की इच्छा है तो इस प्राथमिक और मूलभूत सत्य को समझने का प्रयास करो।

CWSA खण्ड ३२, पृ. ७९-८३ जून १९३५

दो 'सूत्रों' पर श्रीमाँ की टिप्पणी

"भगवान् बहुत बड़े और निर्दयी 'उत्पीड़क' हैं, क्योंकि वे प्यार करते हैं। तुम इस बात को नहीं समझते, क्योंकि तुमने न तो कृष्ण को देखा है और न तुम उनके साथ खेले हो।" *(श्रीअरविन्द, 'विचार और सूत्र')*

"कृष्ण के साथ खेलने" का क्या अर्थ है? "भगवान् बहुत बड़े और निर्दयी उत्पीड़क हैं", इसका क्या अभिप्राय है?

कृष्ण अन्तरस्थ भगवान् हैं, वे एक ऐसी भागवत उपस्थिति हैं जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है। वे सर्वोच्च प्रभु के आनन्द और प्रेम का सर्वोच्च पक्ष भी हैं। वे मुस्कुराती हुई कोमलता और क्रीड़ापूर्ण प्रसन्नता की मूर्ति हैं। वे एक साथ खिलाड़ी, खेल और खेल के सभी साथी, तीनों हैं। और चूँकि यह खेल, परिणामों-सहित पूर्ण रूप से जाना हुआ है, सोचा हुआ, इच्छित, व्यवस्थित तथा अपनी समग्रता में सचेतन रूप से खेला जाता है इसलिए इसमें खेल के आनन्द के सिवाय और किसी चीज़ के लिए स्थान ही नहीं हो सकता। अतएव "कृष्ण को देखने" का अर्थ है, अन्तरस्थ भगवान् को देखना, "कृष्ण से खेलने" का अर्थ है, अन्तरस्थ भगवान् के साथ एक होना तथा उनकी चेतना में भाग लेना। जब तुम इस स्थिति में पहुँच जाओ तो तत्काल दिव्य क्रीड़ा के आनन्द में प्रवेश पा लेते हो। जितना पूर्ण तुम्हारा तादात्म्य होगा उतनी ही पूर्ण तुम्हारी अवस्था होगी।

किन्तु यदि चेतना का कोई एक कोना सामान्य बोध, सामान्य समझ, सामान्य संवेदन को ही बनाये रखे तो तुम दूसरों के कष्ट को देखोगे, तुम इस क्रीड़ा को, जो कि इतने कष्ट का कारण होती है, बहुत निर्दयतापूर्ण पाओगे और तब अन्त में कहोगे कि जो भगवान् इस तरह की पीड़ा में आनन्द लेते हैं वे निश्चय ही भयानक उत्पीड़क होंगे; किन्तु दूसरी ओर, जब तुम भगवान् के साथ तादात्म्य की अनुभूति प्राप्त कर चुको, तो उस विशाल और अद्‌भुत प्रेम को नहीं भूल सकते जिसे वे अपनी क्रीड़ा में उँडेलते हैं, और तब तुम यह समझ जाते हो कि हमारी दृष्टि की सीमा ही हमें ऐसा निर्णय करने के लिए प्रेरित करती है और यह कि वे एक ऐच्छिक उत्पीड़क बिलकुल नहीं बल्कि एक ऐसे महान् और दयालु प्रेम हैं जो जगत् और मनुष्यों को उनकी प्रगतिशील यात्रा में द्रुततम मार्गों के द्वारा पूर्णता की ओर ले जाता है; यद्यपि यह पूर्णता सदा सापेक्ष होती है तथा इसे सदैव पार कर लिया जाता है।

किन्तु एक दिन ऐसा आयेगा जब प्रगति-पथ पर आगे चलने के लिए इस ऊपरी कष्ट की आवश्यकता नहीं रहेगी, जब उन्नति अधिकाधिक सामञ्जस्य और आनन्द के साथ साधित हो सकेगी। ६ अप्रैल १९६०

"किसी ने कहा था कि नेपोलियन एक निरंकुश शासक तथा बहुत बड़े हत्यारे थे; परन्तु मैंने सशस्त्र भगवान् को यूरोप भर में विचरण करते हुए देखा।"—श्रीअरविन्द

क्या ये सब युद्ध पृथ्वी के क्रम-विकास के लिए आवश्यक हैं?

मानव विकास की एक विशेष अवस्था में युद्ध अनिवार्य हैं। प्रागैतिहासिक युग में समूचा जीवन ही युद्ध था और हमारे समय तक भी मानव इतिहास युद्धों की एक लम्बी कहानी है। युद्ध चेतना की एक ऐसी अवस्था का स्वाभाविक परिणाम है जो जीवन के लिए संघर्ष और अहंभावयुक्त उग्रता से शासित है। और वर्तमान समय में, मनुष्यों के द्वारा शान्ति के लिए कुछ प्रयत्न किये जाने पर भी, अभी तक हमें कोई चीज़ यह निश्चिति नहीं दिला सकती कि अब युद्ध एक अनिवार्य विपत्ति नहीं है। वस्तुतः, चाहे खुले रूप में हो या न हो, इस समय भी पृथ्वी के कई स्थलों पर युद्ध की अवस्था नहीं है क्या?

यह भी ठीक है कि पृथ्वी पर जो कुछ होता है वह अनिवार्य रूप से उसे उन्नति की ओर ले जाता है। अतएव युद्ध साहस, सहनशीलता और निर्भीकता के विद्यालय हैं। ये एक ऐसे भूतकाल का नाश करने में उपयोगी हो सकते हैं जो अपना समय पूरा होने पर भी विलीन होकर अपना स्थान नयी वस्तुओं को देने से इनकार करता है। युद्ध पृथ्वी को किसी आक्रमणकारी और विनाशक जाति से मुक्त करने का साधन भी हो सकता है ताकि न्याय और सत्य का शासन स्थापित हो सके—कुरुक्षेत्र का युद्ध इसका उदाहरण है। युद्ध संकट को उपस्थित करके एक अत्यधिक तामसिक चेतना की जड़ता को भी झकझोर सकता है तथा सुप्त शक्तियों को जगा सकता है। और अन्त में, यह शान्ति और युद्ध के भेद को दिखला कर तथा युद्धकाल के तथा उसका अनुसरण करने वाले भयंकर दुष्परिणामों के द्वारा मनुष्यों को एक ऐसा प्रभावकारी साधन ढूँढ़ने को प्रेरित कर सकता है जिसके द्वारा रूपान्तर का यह बर्बर और हिंसक रूप अनावश्यक कर दिया जाये।

कारण, पार्थिव क्रम-विकास में जो कुछ अनावश्यक होता है वह स्वयं ही समाप्त हो जाता है।

१३ अप्रैल १९६०

आपने लिखा है : "ये (युद्ध) एक ऐसे भूतकाल का नाश करने में उपयोगी हो सकते हैं जो अपना समय पूरा होने पर भी विलीन होकर अपना स्थान नयी वस्तुओं को देने से इनकार करता है।" अब जब कि अतिमानस पृथ्वी पर अवतरित हो चुका है, क्या जगत् की वर्तमान अवस्था को बदलने के लिए युद्ध की आवश्यकता पड़ेगी?

सब कुछ राष्ट्रों की ग्रहणशीलता पर निर्भर होगा। यदि वे व्यापक रूप से तथा शीघ्र ही नयी

शक्तियों के प्रभाव के प्रति अपने-आपको खोल दें और काफ़ी जल्दी अपनी धारणाओं तथा अपने कार्यों को बदल दें तो युद्ध टल सकता है। किन्तु अभी तो यह हर समय संकट के रूप में ऊपर मँडराता रहता है और प्रत्येक भूल, चेतना की प्रत्येक कालिमा इस संकट को बढ़ा रही है।

फिर भी अन्तिम विश्लेषण में, प्रत्येक वस्तु वस्तुतः, भागवत कृपा पर ही निर्भर करती है और हमें भविष्य की ओर विश्वास के साथ और शान्तिपूर्वक देखना चाहिये, साथ ही जितनी तेज़ी से हो सके प्रगति करते रहना चाहिये।

१५ अप्रैल १९६०

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. ५७-६०

अगर तुम दुनिया को बदलना चाहते हो तो अपने-आपको बदलो। अपने आन्तरिक रूपान्तर द्वारा यह प्रमाणित करो कि सत्य-चेतना जड़-भौतिक जगत् पर अधिकार कर सकती है और धरती पर 'भागवत एकता' अभिव्यक्त की जा सकती है।

संस्थाएँ चाहे जितनी विशाल और पूर्ण क्यों न हों, कोई स्थायी चीज़ नहीं प्राप्त कर सकतीं जब तक कि एक नयी शक्ति, जो अधिक दिव्य और सर्वशक्तिमान् हो, अपने-आपको पूर्ण बने हुए मानव यन्त्र के द्वारा प्रकट नहीं करती।

२३ अगस्त १९५२

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ३०५

भौतिक साधना

वह भी जो नीरवता और एकान्त में पूर्ण निदिध्यासन तक पहुँच गया होगा, वह अपने-आपको शरीर से बाहर निकाल कर, इसकी अवहेलना करके ही ऐसा कर सका होगा; और इस तरह शरीर जिस द्रव्य से बना है वह पहले जैसा अशुद्ध और अपूर्ण ही रह जायेगा क्योंकि उसने अपने शरीर को अपने हाल पर ही छोड़ दिया होगा; और एक विभ्रान्त रहस्यवाद और अतिभौतिक भव्यताओं के आकर्षण द्वारा अपने निजी सन्तोष के लिए तेरे साथ एक हो जाने की अहंकारमयी कामना के कारण उसने अपने पार्थिव जीवन के प्रयोजन की ओर से मुँह मोड़ लिया होगा, भीरु की तरह जड़ पदार्थ का उद्धार करने, उसे पवित्र करने के अपने उद्देश्य से इन्कार कर दिया होगा। यह जानना कि हमारी सत्ता का एक भाग पूरी तरह शुद्ध है, उस शुद्धि के साथ सम्पर्क रखना, उसके साथ एक होना तभी उपयोगी हो सकता है जब हम बाद में इस ज्ञान का उपयोग पार्थिव रूपान्तर को जल्दी लाने के लिए, तेरे उच्चतम कार्य को पूरा करने के लिए करें। **'श्रीमातृवाणी',** खण्ड १, पृ. १८

इस योग की मौलिक उपलब्धियाँ हैं :

१—एक चैत्य रूपान्तर ताकि पूर्ण भक्ति हृदय का मुख्य उद्देश्य बन सके और श्रीमाँ के साथ सतत ऐक्य तथा उनकी उपस्थिति में रह कर विचार, जीवन तथा क्रिया में उनके साथ एक हुआ जा सके।

२—मस्तिष्क तथा हृदय द्वारा उच्चतर चेतना की शान्ति, शक्ति, प्रकाश इत्यादि का सारी सत्ता में अवतरण, ताकि वे शरीर के कोषाणुओं तक में बस जायें।

३—एकमेव तथा भगवान् का अनन्त रूप से सर्वत्र दर्शन, श्रीमाँ को हर जगह देखना तथा उस अनन्त चेतना में निवास करना। CWSA खण्ड ३०, पृ. ३१९

जब साधना मानसिक या प्राणिक स्तर पर हो रही होती है तो नियन्त्रण या परिवर्तन अधिक आसान होता है क्योंकि मन और प्राण भौतिक सत्ता से अधिक नमनीय हैं। किन्तु दूसरी ओर यदि भौतिक स्तर पर कोई वस्तु निश्चित रूप से उपलब्ध हो जाती है तो यह केवल मानसिक या प्राणिक स्तर पर प्राप्त सिद्धि की अपेक्षा अधिक स्थायी और पूर्ण सिद्धि होती है।

CWSA खण्ड ३१, पृ. ३६५

भौतिक साधना का लक्ष्य है, शरीर की चेतना में उच्चतर प्रकाश, शक्ति, शान्ति और आनन्द को उतार लाना, भौतिक सत्ता के तमस् से, भौतिक मन की शंकाओं, सीमाओं और बाह्य प्रवृत्तियों से तथा प्राणिक-भौतिक (स्नायुओं) की दोषपूर्ण ऊर्जाओं से मुक्ति पाना और

उनके स्थान पर उसमें सत्य चेतना ले आना जिससे भौतिक सत्ता भागवत संकल्प का पूर्ण यन्त्र बन जाये। भोजन और शरीर की चिन्ता उसे केवल अच्छी हालत में रखने के लिए ही होती है, बाद में जाकर ऐसी चीज़ों की ओर ध्यान देना ज़रूरी नहीं रहेगा।

CWSA खण्ड ३१, पृ. ३६७-६८

शरीर की चेतना की बाधा से पार पाना बड़ी थकाने वाली चीज़ है, लेकिन यह 'शक्ति' को अन्दर विकसित होने में अड़ंगा नहीं डालती और 'शक्ति' के द्वारा अपने समय में घिस-पिट जाती है। प्रश्न है बस समय का कि 'शक्ति', 'प्रकाश' शरीर **में** प्रवेश करे और उसे इस भावना से भर दे कि वह केवल शरीर नहीं है, बल्कि है उच्चतर चेतना को ग्रहण करने का पात्र।

CWSA खण्ड ३१, पृ. ३७९

शरीर की चेतना का एक बहुत बड़ा भाग अवचेतन होता है और शरीर की चेतना और अवचेतना एक-दूसरे से बहुत क़रीबी रूप से जुड़ी हुई हैं।

शरीर तथा भौतिक एक साथ मिलते नहीं हैं—शरीर की चेतना सम्पूर्ण भौतिक चेतना का बस एक हिस्सा होती है। CWSA खण्ड २८, पृ. २०९

अगर प्रकाश, बल, श्रीमाँ की चेतना को नीचे शरीर में अवतरित कर दिया जाये तो वे अवचेतना में भी प्रवेश करके उसके अन्धकार और प्रतिरोध को बदल सकते हैं।

अवचेतना से जब कोई चीज़ इतने पूर्ण रूप से मिटा दी जाती है कि उसका बीज तक बचा नहीं रहता या उसकी परिधि से उसे खींच कर, पूरी तरह से ऐसे उखाड़ फेंक दिया जाता है कि वह दोबारा पलट कर आ ही नहीं सकती, केवल तभी हम निश्चित हो सकते हैं कि उसके साथ हमेशा-हमेशा के लिए हमने पल्ला झाड़ लिया है।

CWSA खण्ड २८, पृ. २२१

माँ, यहाँ लिखा है : "हमारे योग का उद्देश्य है, भौतिक चेतना में और अतिमानसिक स्तर पर (भगवान् के साथ) जुड़ना;" तो, जब भौतिक चेतना भगवान् के साथ जुड़ जाती है तो क्या उसके बाद रूपान्तर होता है?

हाँ। "उसके बाद", पर तुरन्त नहीं। उसमें समय लगता है। रूपान्तर तभी होता है जब भगवान् भौतिक चेतना में अवतरित हो जायें—बल्कि यों कहना चाहिये, जब भौतिक चेतना भगवान् के प्रति पूर्णतया ग्रहणशील हो जाये—तब स्वाभाविक रूप से रूपान्तर आरम्भ हो जाता है। लेकिन रूपान्तर जादू की छड़ी हिलाने से नहीं हो जाता। इसमें समय लगता है और यह क्रमिक रूप से होता है। **'श्रीमातृवाणी',** खण्ड ६, पृ. १२४

श्रीअरविन्द के उत्तर

(९१)

*दोपहर को अचानक यादों की एक शृंखला मुझ पर टूट पड़ी। वैसे वे सभी बहुत नगण्य-सी चीज़ें थीं, जिनका सचमुच कोई महत्त्व ही नहीं था, सचमुच जैसे-जैसे वे ऊपर उठ रही थीं, मुझे बड़ी विनोदी लग रही थीं। लेकिन चूँकि वह फ़्रांसीसी गणतन्त्र दिवस था, और उस दिन के वातावरण और चारों तरफ़ लोगों के शोरगुल में मैं किसी भी चीज़ के लिए तैयार था, मैं उन चीज़ों को सतही दृष्टि से देख रहा था। उसके बाद मुझे मस्तिष्क में एक तरह के ख़ालीपन और विस्तार का अनुभव हुआ, और वे यादें और सम्बन्ध ऊपर सतह पर आ गये, और कभी-कभी ऐसा लग रहा था मानों वे मेरे बाहर हों। फिर मैंने सोचा कि मुझे बाहर चहलक़दमी के लिए जाना चाहिये, मैं आश्रम चला गया। लेकिन वहाँ अन्दर चलने की बजाय मैं आश्रम के पुस्तकालय के पास वाली बेंच पर **स्तब्धीभाव** के साथ लेट गया, और तब तक लेटा रहा जब तक नलिनी ने मेरा नाम ज़ोर से लेकर नहीं पुकारा। उन्होंने मुझे जो चिट्ठी दी वह मैंने ले ली—इसके बाद की कोई स्मृतियाँ नहीं हैं।*

मस्तिष्क में ख़ालीपन और विस्तार का होना बहुत अच्छा चिह्न है। यह वैश्व चेतना में क्षैतिज रूप से तथा ऊपर 'आत्मा' में तथा सिर के ऊपर उच्चतर आध्यात्मिक 'मन' में खुलने की अवस्था है।

१४ जुलाई १९३५

लेकिन मेरे सिद्ध बनने का कोई प्रश्न तक नहीं उठता! मैंने बस औरों के साथ अपने सम्पर्क कम किये हैं। यह न तो आन्तरिक न ही बाहरी नीरवता है। अगर ऐसा होता तो मेरे अन्दर सिद्ध बनने का कहीं कोई जोश तो होता। मेरे मामले में यह ख़तरों से भागना है। और एक नये तथा उचित तरीक़े से चीज़ को शुरू करके सम्पर्कों को छोड़ देना है। और फिर मुझे यह भी देखना होगा कि मैं इसमें कहाँ तक सफल होऊँगा।

हाँ तो, 'म' की नज़रों में सम्पर्कों से कतराना ही अपराध है—ऐसा गम्भीर अपराध जिसे सिद्ध पुरुष का नाम दिया जा सकता है। लोग-बाग उस व्यक्ति के लिए हमेशा ग़ुस्से से तमक उठते हैं या घृणा से भर जाते हैं जो वैसा नहीं करते जैसा वे करते हैं और उन्हें अपशब्द कह बैठते

हैं। इस प्रसंग में "सिद्ध" भी किसी और अपशब्द के जैसा ही है।

> *यादों का कैसा धुआँ—ज़्यादातर शादी और प्रेम के विचार थे—मानों मैं एक बहुत लम्बे जाग्रत् उन्माद में था। लोगों के साथ लम्बा सम्पर्क न रखने के बाद इस अवस्था में मुझे बहुत अकेला अनुभव हुआ। लेकिन जो कोई रास्ता मैंने सोचा कि इस पर चल कर अपने मन को कुछ हलका कर लूँ, किसी दूसरी चीज़ की ओर मोड़ दूँ, वही रास्ता मुझे बन्द मिला। ऐसे 'मूड' के बाद मैंने अपने-आपको समेटा और बेहतर विचारों में जीने की कोशिश की।*

यह बार-बार आने वाला बुख़ार है जिससे तुम्हें पीछा छुड़ाना होगा।

> *कल शाम की चिट्ठी पाने के बाद मुझे गले में गुदगुदी-सी महसूस हुई। रात को बुख़ार, खाँसी और कमज़ोरी थी। लेकिन मज़ेदार बात यह थी कि मेरे सभी सपने यहाँ के बारे में थे। यह अवस्था सवेरे तक चलती रही, मैं बिस्तर पर ही रहा, बीच-बीच में काम पर नज़र डालने के लिए उठा। फिर उसके बाद यादों का धुआँ उठ आया और अतीत की सभी घटनाएँ मानों बुख़ार के साथ उमड़ पड़ीं, मुझे सचमुच बुख़ार चढ़ गया। मुझे पता नहीं यह बारिश की वजह से था या फिर इसका कारण १४ अप्रैल (फ़्रांसीसी गणतन्त्र दिवस) के वातावरण के कारण था, या फिर एक उदासी के बाद का परिणाम हो या प्राण-भौतिक में प्रतिरोध हो। बहुत दिनों के बाद मुझे बुख़ार चढ़ा है और मैंने देखा कि आंशिक रूप से मैं उसमें रस ले रहा था।*

बारिश ही होगी + १४ तारीख़। लेकिन इसमें बहुत रस न लो—इसे बाहर निकाल दो।

> *१४ जुलाई जैसे दिनों का क्या प्रभाव पड़ता है? मुझे ऐसा लगता है कि जो बाहर जाकर लोगों के साथ मिलते-जुलते हैं, १४ जुलाई की रौशनी इत्यादि देखने निकल जाते हैं, सामान्य लोगों के समस्त आवेशी जीवन, कामनाओं, उत्सुकताओं तथा धुँधलेपन के साथ एक हो जाते हैं उन पर इसका बहुत प्रभाव पड़ता है। क्या ऐसा नहीं होता कि जो इस वातावरण में जाते हैं वे बाद में बिना जाने ही इसे श्रीमाँ के ऊपर नहीं फेंकते?*

तुम्हारा कहना सही है। यही कारण है कि हम ऐसी चीज़ों के साथ सम्बन्ध रखने को प्रोत्साहन नहीं देते—ये चीज़ें बहुत ज़्यादा तामसिक हैं। अपनी चेतना को नीचे गिराये बिना वैसे ही लोगों के अन्दर बहुतेरी समस्याएँ हैं, तिस पर वे यह सब कुछ अपने अन्दर क्यों लेना चाहते हैं भला?
१७ जुलाई १९३५

क्या बुख़ार शुद्धीकरण के लिए नहीं आता? प्राकृतिक चिकित्सा में मैंने पढ़ा था कि बुख़ार शरीर की अशुद्धियों को दूर कर देता है। उसी तरह, क्या यह सम्भव नहीं है कि वह प्राणिक-भौतिक अशुद्धियों को भी निकाल दे? रही बात शरीर की शुद्धि की, यह सन्देहास्पद लगता है, क्योंकि हो सकता है कि यह कुछ हिस्सों को ज़्यादा बुरी अवस्था में ले जाये। लेकिन यह मन को कुछ अधिक शान्त बना देता है, या शायद मन्द। मुझे साल में एक बार कुछ दिनों का बुख़ार पसन्द है, क्योंकि इसमें शुद्ध करने की क्षमता होती है।

निश्चित रूप से बुख़ार बहुधा शरीर में प्रवेश कर गयी अशुद्धियों से लड़ने का मात्र संघर्ष नहीं होता, बल्कि कभी-कभी उसका उपचार स्वयं बीमारी से कहीं अधिक बुरा होता है। वही समान बात मन की कठिनाइयों के साथ होती है—कभी-कभी बीमारियाँ कुछ अशुद्धियों को बाहर निकालने में सफल होती हैं, लेकिन कभी-कभी इससे अच्छा होने की बजाय हानि अधिक हो सकती है।

एक बार चन्दूलाल ने मुझे N.S.E (New Secretariat East) के फ़र्श का डिज़ाइन बनाने का प्रस्ताव दिया था, लेकिन वे इसका निर्णय नहीं कर पा रहे थे कि क्या सफ़ेद सीमेंट का उपयोग किया जाये या फिर फ़र्श पर पॉलिश लगायी जाये। मैंने देखा कि सबसे अच्छा है कि हम वही करें जो हमने राजंगम के वर्तमान कमरे के लिए किया है, जहाँ हमने सफेद चूने का गारा लगाया है—मैंने देखा कि वह फ़र्श बहुत अच्छा है, हालाँकि लोग कहते हैं कि समय के साथ-साथ यह ख़राब हो जाता है। दूसरे नम्बर पर होगा बालू के साथ सफ़ेद सीमेंट का प्रयोग, जैसा कि हमने बेकरी के ऊपर वाले कमरे में किया है, लेकिन वहाँ मैंने देखा कि सफ़ेद सीमेंट पर काफ़ी दाग़-धब्बे लग जाते हैं। कुल मिला कर, अगर हम टाइल्स का उपयोग न करें, तो उत्तम रहेगा कि राजंगम के कमरे-जैसा फ़र्श बनाया जाये। दीवारों, छतों इत्यादि को ठीक करने—रंग-रोगन करने में हमने जो इतनी मेहनत लगायी, और अब अगर हम फ़र्श की बस सीमेंट के गारे से लीपा-पोती कर दें तो यह बड़ी बुरी चीज़ होगी।

श्रीमाँ देखेंगी कि अच्छे-से-अच्छा क्या किया जा सकता है।
१८ जुलाई १९३५

एक तरह से मेरा एक दिन का बुख़ार लगता है कि मेरा भला करके जाता है। लेकिन मन में बात उलटी ही होती है। यादों और कल्पनाओं की बाढ़ ने मुझे मन

के छितराव की स्थिति में ला खड़ा कर दिया है। दो दिनों के बाद भी मैं अपनी स्थिति समझ नहीं पा रहा हूँ, यहाँ तक कि ध्यान के समय भी मुझे एकाग्र होने में मुश्किल हो रही है। शायद मानसिक थकान हो।

बहुत सम्भव है—बुख़ार के बाद भौतिक मन को अपनी शक्ति और नमनीयता दोबारा पाने में बहुधा कुछ दिन लग जाते है।
१९ जुलाई १९३५

वह स्पष्ट रूप से पूर्ण शान्ति थी, लेकिन हर्ष नहीं था। वास्तव में, मैं तो भूल ही चुका हूँ कि हर्ष होता क्या है—'ज' अथवा 'प' के जैसा अट्टहास मेरे अन्दर बहुत ही कम उठता है। जब मैं ऐसे अट्टहास को सुनता हूँ तो वह मुझे उदास और चिड़चिड़ा बना देता है। हम घण्टों पर घण्टे ठहाका लगाया करते थे, लेकिन वह सब मात्र थोड़ा-सा बौद्धिक आनन्द या प्राण की अधिकता थी। शान्ति अथवा सभी सम्पर्कों से बच कर रहने की भावना ने सम्भवतः मुझे बहुत गभीर और आनन्दहीन बना दिया है, हालाँकि मैं उदास या कठोर नहीं हूँ। और अगर मैं उसमें दोपहर की अन्तहीन यादों और विचारों को जोड़ दूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि सभी सम्बन्धों से बचना आख़िरकार व्यर्थ है और यह मुझे उस द्रुत परिवर्तन की ओर नहीं ले जा रहा जिसकी मैं कामना कर रहा हूँ।

शान्ति को गभीर या आनन्दहीन होना ही नहीं चाहिये—उसमें कोई धुँधलापन न हो—बल्कि शान्ति के साथ आनन्द या हर्ष अथवा हलकेपन का जो भाव आये वह अनिवार्य रूप से कोई आन्तरिक, स्वयम्भू वस्तु होनी चाहिये या वह अनुभूति की गभीरता से ओत-प्रोत होनी चाहिये—वह वह अट्टहास नहीं हो सकती जिसके बारे में तुम कह रहे हो, यानी वह किसी बाहरी कारण के द्वारा नहीं आती या उस पर निर्भर नहीं होती, उदाहरण के लिए, वह अद्‌भुत, मतवाला इत्यादि बना देने जैसी वस्तु कतई नहीं है।
२० जुलाई १९३५

ऐसा कैसे होता है कि कुछ लोग शारीरिक दृष्टि से अपने-आपको बहुत सक्रिय और ऊर्जस्वी रखते हैं जैसे 'प', 'ज', या 'अ'। हम कभी उन्हें धीमी चाल से चलते ही नहीं देखते। निस्सन्देह, मुझे याद है कि १९३२ और ३३ में ख़ुद मैं भी बहुत सक्रिय था। क्या इसका कारण यह है कि धीरे-धीरे मैं बुढ़ा रहा हूँ और क्रमशः ढीला पड़ रहा हूँ? अभी-अभी 'र' मुझसे मिला और उसने मुझसे कहा, "तुम तो ऐसे चल रहे हो मानों तुम्हारे अन्दर कोई समय-बोध ही न हो।" दरअसल, मैं मुश्किल से

चल पा रहा था क्योंकि मुझे बहुत भारीपन महसूस हो रहा था। लेकिन मैं यह भी नहीं कह सकता कि मैंने काम ज़्यादा किया और उसकी वजह से मैं थक गया—शायद बात उलटी हो।

यह शायद शान्ति के नीचे उतरने के प्रयास का गुज़रता हुआ लक्षण हो। मैंने बहुतों से यह सुना है कि प्रारम्भिक स्तरों पर शरीर कुछ भी करने को अनिच्छुक था और हिलने-डुलने, चलने-फिरने में भी असमर्थता का अनुभव करता था। निस्सन्देह यह एक अनावश्यक प्रतिक्रिया है—शरीर आन्तरिक स्थिरता के दबाव को बाहरी स्थिरता में बदलना चाहता है।

ऐसा कैसे होता है भला कि योग शुरू करने से पहले ही कुछ लोग शान्ति में रहते प्रतीत होते हैं? लगता है कि उनके अन्दर बहुत कम उग्र प्राणिक क्रिया चलती है या फिर उनका मन बहुत सक्रिय नहीं होता। क्या इसका यह कारण है कि वे साधारण जीवन में भी शान्ति को खींचते रहते हैं? बाहर कई लोगों का मन बहुत शान्त होता है और वे हमसे ज़्यादा सावधानी और व्यवस्थापूर्वक अध्ययन करते हैं, उनमें बहुत भटकाव नहीं होते। वह केवल बाहरी ठहराव नहीं हो सकता जो सामाजिक अभ्यास द्वारा आता है, क्योंकि प्राण को ठोस रूप से शान्त किये बिना व्यक्ति कई सालों तक इतने धीरज के साथ अध्ययन में निरत नहीं रह सकता।

इसका कारण बस यही है कि प्राण की अपेक्षा वे मन में अधिक जीते हैं, या उनकी प्रकृति में एक सन्तुलन होता है या फिर इसलिए कि उनका राजसिक की बजाय अधिक सात्त्विक स्वभाव होता है। शान्ति या अचञ्चलता इस सन्तुलन या शान्त स्वभाव अथवा सात्त्विक मानसिक तथा प्राणिक आराम से एकदम अलग चीज़ होती है।
२१ जुलाई १९३५

यहाँ शान्ति का परिणाम लगभग वैसा ही होता है जैसा कि सामान्य जीवन में लोगों के अन्दर शान्ति के अवतरण के बिना पाया जाता है, यानी, अगर वहाँ शान्ति किसी गुप्त तरीक़े से नहीं उतरती। यहाँ, जब व्यक्ति के अन्दर शान्ति होती है तो वह अधिक स्पष्टता से सोचता है, व्यक्ति कुछ हद तक बाहरी क्रियाओं को संयम में रख सकता या सात्त्विक बना रह सकता है। लेकिन बाहर सन्तुलन, शान्त प्रकृति या सात्त्विक स्वभाव ज़रूर पिछले जन्मों के किसी आन्तरिक प्रयास से ही आते होंगे—मुझे नहीं लगता कि वहाँ ऐसे बहुत हैं, लेकिन बहरहाल, जो हैं उन्हें शान्तिप्रिय, अचञ्चल व्यक्तियों के रूप में ही जाना जाता है। अगर वे अपने मानस में अधिक रहें तो इसका अर्थ है कि अधिकतर व्यक्ति जो प्राण में रहते हैं उनकी अपेक्षा उनके

अन्दर अपनी चेतना को उच्चतर स्तर पर बनाये रखने की महानतर क्षमता है, और इसके लिए एक आन्तरिक ठहराव, अचञ्चलता तथा शान्ति आवश्यक होती हैं।

निस्सन्देह, अतीत के किसी क्रमविकास द्वारा ही उन्होंने मन में रहने की शक्ति पायी होगी। लेकिन आध्यात्मिक शान्ति कुछ और ही चीज़ है और यह मानसिक शान्ति से अनन्तगुना अधिक होती है और इसके परिणाम भी भिन्न होते हैं; न केवल स्पष्ट चिन्तन या कुछ संयम, सन्तुलन अथवा सात्त्विक अवस्था प्राप्त होती है बल्कि इसके अधिक महान् परिणाम पूरे-पक्के तौर पर केवल तभी अभिव्यक्त हो सकते हैं जब वह शान्ति व्यक्ति के शरीर में पर्याप्त समय तक बनी रहे या जब वह उसे सिर के ऊपर फैलता हुआ और हर दिशा में अनन्त की ओर खिंचता हुआ अनुभव करे और साथ ही उसे यह अनुभूति भी हो कि वह आध्यात्मिक शान्ति नीचे शरीर के कोषाणुओं तक में गहरे प्रवेश कर रही है। तब वह अपने साथ इतनी गहरी और विस्तृत तथा ठोस अचञ्चलता ले आती है जिसे कोई चीज़ डिगा नहीं सकती—भले सतह पर झञ्झा और युद्ध क्यों न चल रहा हो। मैं स्वयं अपने यौवन में उसी तरह का सात्त्विक पुरुष था जैसा तुमने वर्णन किया है, लेकिन जब ऊपर से शान्ति नीचे उतरी, तब एकदम दूसरी ही चीज़ हो गयी। सत्त्वगुण निर्गुण में और नकारात्मक निर्गुण सकारात्मक त्रैगुण्यातीत में विलीन हो गया।
२२ जुलाई १९३५

अभीप्सा (हरसिंगार पुष्प) के फूल पर एकाग्रचित्त होते-होते (मैं उसके साथ प्रायः एक हो गया था), मैंने अपने-आपको अपने माध्यमों से इतना अलग-थलग और फिर भी इतना युक्त पाया कि मुझे ऐसा लगा मानों मैं हवा में मुक्त हो गया हूँ। ऐसा क़रीब पन्द्रह मिनट चला और इसके परिणाम-स्वरूप मेरी चेतना अचञ्चलता और शान्ति की अवस्था में पहुँच गयी। वह मन्दता और भारीपन नहीं था जो कभी-कभी ऐसी अवस्था में आ जाते हैं। कौन ऐसी अवस्था के बारे में बोल कर उसे तितर-बितर करना चाहेगा!

मुक्ति तथा शान्ति की यह उचित अवस्था है—कोई मन्दता इसमें आ नहीं सकती।

मैंने सुना कि आजकल आपके ऊपर चिट्ठियों का पहाड़ टूट रहा है। क्या मैं अपना पत्राचार एकदम कम कर दूँ क्योंकि मुझे लगता है कि अब बहुत कठिनाइयाँ नहीं आयेंगी न?

इसकी आवश्यकता नहीं है—जिस दिन से माँ प्रणाम के लिए नहीं आ पायीं तब से सोमवार और शनिवार के सिवाय और किसी दिन चिट्ठियाँ ज़्यादा नहीं आयीं—और अब तो मैं सोच

रहा हूँ कि जल्दी ही मैं छुट्टी की घोषणा कर दूँगा।

हालाँकि अब न तो मेरी बेंजामिन के साथ फ़्रेंच की कक्षा हो रही है न अभ्यास, न मैं 'श' के साथ पढ़ ही रहा हूँ, फिर भी मैं अपने दिन के काम मुश्किल से ख़तम कर पाता हूँ और सोने के पहले मेरे पास न के बराबर समय होता है। मुझे आश्चर्य होता है कि उन दिनों मैं च', 'इ' तथा दूसरों के साथ कैसे पढ़ पाता था, व्याकरण और अभ्यास भी कर लेता था, कक्षा में जा पाता था और 'स' को पढ़ा भी लेता था। ताज्जुब की बात है कि इतना सब करने के लिए मेरे पास इतना समय और मेरे अन्दर इतनी ऊर्जा कहाँ से आती थी? अब मैं व्याकरण का एक अभ्यास तक नहीं करना चाहता या 'स' को अनुवाद की एक पंक्ति भी नहीं देना चाहता जिसके लिए वह बिचारी मेरी कितनी मिन्नतें करती है। अब वह सब मुझे समय की बरबादी मालूम होती है और लगता है मानों मैं अमरीकन शैली में सब कुछ व्यर्थ ही कर रहा था!

इस तरह की सभी गतियाँ तब ऐसी प्रतीत होती हैं जब मनुष्य इन गतियों से निकल कर अधिक शान्त चेतना या आन्तरिक अवस्था में चला जाता है। लेकिन जब गत्यात्मक आवेग (राजसिक या कोई और) उस पर छा जाता है तब समय की कोई गिनती नहीं होती, व्यक्ति क्रिया के भँवर में घुस जाता है और अमरीकन तेज़ी उसे एकदम सामान्य लगती है।
२४ जुलाई १९३५

कुली समुद्र-तट पर उसी सामान्य स्थान पर मलबा फेंक रहे थे कि तभी एक पुलिसवाला आ पहुँचा, उसने उन्हें वहाँ फेंकने से मना किया और सबके नाम दर्ज कर लिये। आज तक वे उसी जगह पर फेंकते आ रहे हैं और कभी कुछ नहीं हुआ। कुलियों ने मुझे दूर से देखा तो बुलाया। मैंने उनसे कहा कि मलबा दूसरी जगह फेंकें जहाँ से धूल दोरा (कुलीन पुरुष) के घर तक नहीं जायेगी। वे दूसरी जगह फेंकने लगे तो एक पुलिसवाला हाथ उठा कर उन्हें मारने की धमकी देने लगा। मैंने मलबे की एक टोकरी ख़ुद ही उठा ली और मैं उसे फेंकने ही वाला था कि उसने वही इशारा मेरी तरफ़ भी किया। फिर उसने मुझे अपने साथ आने के लिए कहा। मैंने उससे कहा कि यहाँ न फेंकने की कोई सूचना नहीं है और अब तक तो हम यहीं फेंक रहे थे। मैंने यह कह कर उसके साथ जाने से मना कर दिया कि उसके पास गिरफ़्तारी का कोई वॉरण्ट नहीं है। हम वहाँ प्रतीक्षा करते रहे, इस बीच मैंने अमृत और चन्दूलाल को वहाँ आने के लिए एक नोट भेजा। तब तक कुछ लोग आ गये और पुलिसवाला उनसे गाली-गलौच करने लगा। मैंने

उसे आँखें तरेर कर देखा जिससे वह ग़ुस्से में भर आया, और मुझे मारने के लिए लपका, लेकिन उसने मुझ पर हाथ उठाया नहीं। फिर वह तीन कुलियों को अपने साथ ले गया। बाद में जब अमृत आये तो मैंने उनको सारी घटना सुनायी। मुझे मालूम नहीं कि मुझे और किस तरह बर्ताव करना चाहिये था। कुली अभी तक वापस नहीं आये हैं।

जो कुछ तुमने लिखा वह यह दिखलाता है कि फ़्रेंच क़ानून के बारे में तुम एकदम से अनजान हो। यहाँ पुलिस को पूरा अधिकार है कि किसी भी नागरिक की शिकायत पर वे कोई भी ऐसा काम रोक दें जिसे बाधा समझा जाये। हमने ख़ुद कल उन बच्चों के ख़िलाफ़ शिकायत दर्ज की थी जो 'बेलव्यू' के पासवाले घर के सामने घण्टों तक फ़ुटबॉल खेलते हुए बड़ी चिल्ल-पों मचा रहे थे और उसे रोकने के लिए मेयर ने फ़ौरन एक पुलिसवाले को भेजा। उसी तरह Procureur de la République यानी, वह सरकारी वकील जो पुलिस-प्रमुख होता है, वह अफ़सर जो सभी फौजदारी मामलों की जाँच करता है, उसने शिकायत की कि मलबे के फेंकने से धूल के ग़ुबार से उसका घर भर गया है। अपने क़ानूनी अधिकार के हिसाब से वह एकदम सही था, जैसा कि बच्चों के ख़िलाफ़ हमारा शिकायत करना भी एकदम ठीक था। तो उसी तरह उन्होंने भी मलबा फेंकने से रोकने के लिए पुलिस भेजी। तब क़ानूनी तौर पर तुम्हारे पास उनका आदेश मान लेने के सिवाय और कोई चारा न था। पुलिस के आदेश के बाद भी अपनी बात पर डटे रहना जनता को प्राप्त अधिकार की अवज्ञा करना है जो फ़्रेंच क़ानून के तहत गम्भीर चीज़ है। तुम बस उनसे यह पूछ सकते थे कि मलबा फेंकने के लिए वे तुम्हें कोई स्थान दिखा दें।

कुली शाम को ७.३० के क़रीब वापस आये। उनसे कल सवेरे आठ बजे फिर से मेरे साथ आने को कहा गया है, साथ ही तीन महीने जेल की सज़ा की धमकी भी दी गयी है। मेरी समझ में नहीं आता कि यह तो हमें दोषी ठहराने-जैसी बात हो गयी, और जहाँ तक मेरी उनके साथ जाने की बात है, मुझे इसमें एकदम से कोई तुक ही नज़र नहीं आता। अगर वे चाहते हैं कि मैं भी जाऊँ तो मेरे ख़िलाफ़ उन्हें कोई वॉरण्ट या आदेश भेजना चाहिये था, कुली मुझे कैसे ले जा सकते हैं भला? अमृत ने कहा कि मुझे जाना ही पड़ेगा, मेरे ख़याल से यह असम्भव होगा, और अन्त में अगर मैं चला भी गया तो बात कहीं अधिक जटिल बन जायेगी क्योंकि स्वाभाविक है कि मैं ज़रूर उन्हें दो-चार सुना भी आऊँगा (अगर वे अंग्रेज़ी समझते हों) जो उन्हें प्रिय न लगेगा। मुझ पर वे क़ानून की कोई भी धारा न लगा पायेंगे क्योंकि उन्होंने वहाँ ऐसी कोई भी सूचना नहीं लगायी है कि वहाँ मलबा न फेंका जाये। जितना मैं समझा, यह बस उस जज की सुविधा के लिए किया गया जो हमारी सड़क के परले सिरे पर रहते हैं, लेकिन क़ानूनी तौर पर वे इसे हम

पर थोप नहीं सकते।

वे कर सकते हैं, यह पूरी तरह से उनके क़ानून के अन्दर आता है जो ब्रिटिश भारत के क़ानून से एकदम अलग है।

बेंजामिन कमिश्नर के पास गया था और उससे कहा गया कि कुली इसी शर्त पर छोड़े गये कि वे कल तुम्हारे साथ कमिश्नर के सामने उपस्थित हों। कमिश्नर ने कहा कि वह इस मामले को रद्द नहीं कर सकता, न ही दबा सकता है क्योंकि तुम्हारे ख़िलाफ़ औपचारिक शिकायत दर्ज की गयी है और वकील उससे पूछ सकता है कि आगे क्या कार्रवाई की गयी; तुम्हें बस अदालत में मुँह दिखाना है और वे उसे *"contravention"* —उल्लंघन—(पुलिस या नगरपालिका के नियमों या आदेशों का उल्लंघन) के मामले के रूप में दर्ज करके एक फ़्रैंक का जुर्माना लगा देंगे। पुलिस कमिश्नर को तुम्हारे पास मौखिक या लिखित सूचना भेजने का अधिकार होता है—(यह ब्रिटिश क़ानून के जैसा बिलकुल नहीं है जहाँ पहले औपचारिक समन या वॉरण्ट का भेजना ज़रूरी है) और तुम्हें उनका इस तरह बुलाना और कुछ नहीं, बस सद्भावना का संकेत है, क्योंकि यह दर्शाता है कि यह मामूली-सा मामला है। लेकिन अगर तुम अदालत में हाज़िर होने से मना कर दो तो बात तुम्हारे और आश्रम दोनों के लिए गम्भीर बन जायेगी, मुक़द्दमा दायर हो सकता है और जेल भी हो सकती है। और अगर तुम वहाँ जाकर कमिश्नर के बारे में कोई उलटी-सीधी बात कर दो तो वह भी क़ानून के हिसाब से गम्भीर अपराध माना जायेगा। हमने अमृत को मेयर (डेविड) के पास भेजा था और उसने कहा कि और कुछ नहीं, बस कल तुम्हें अदालत में हाज़िर होना और वहाँ एकदम चुप रहना है, और अगर वे कहें कि तुमने नियम का उल्लंघन किया है तो बस मान लेना और तब वे एक फ़्रैंक जुर्माने का आदेश दे देंगे, बस, सारी चीज़ रफ़ा-दफ़ा हो जायेगी। जुर्माना भर देना बहुत नगण्य-सी चीज़ है (ऐसा सबके साथ होता है)—मुक़द्दमा दायर कर देना गम्भीर बात है।

इसलिए कल तुम्हें जाना होगा (हम बेंजामिन से तुम्हारे साथ जाने को कहेंगे) और इस तरह चुपचाप सारे मामले को सलटा देना। वहाँ न कोई हुज्जत करना, न किसी तरह की चर्चा—इस सबकी वहाँ कोई गुंजाइश नहीं होती, क्योंकि क़ानून स्पष्ट और निश्चित होता है।

बेंजामिन और मैं कमिश्नर के पास गये और हम बिलकुल तनावमुक्त थे। 'नियम का उल्लंघन' के तहत हम पर मुक़द्दमा ठोकना उन्हें बड़ा मुश्किल लगा क्योंकि मलबा और कूड़ा-करकट फेंकने की सूचना समुद्र-तट पर लगी हुई है। उसने मुझसे पूछा कि क्या मैंने पुलिस को धक्का देने की कोशिश की। मैंने कहा, "इसके विपरीत, उसने मुझे पीटने की कोशिश की और उसने मुझे धक्का दिया।" फिर हम "Chef" (अध्यक्ष) के पास गये, लेकिन वह वहाँ नहीं मिला। एक और व्यक्ति वहाँ था, उसने हमसे बातचीत की और हमें तीन बजे आने को कहा जब "Chef" वहाँ होगा।

मैंने सुना है कि सारा मामला निपट गया है। वह "Chef" वही था जो श्रीमाँ से मिलने आया था और आश्रम के बारे में जानता है और सहानुभूति रखता है।

परसों रात मैंने सपने में एक बड़ी सी गाड़ी देखी जो धीरे-धीरे उलट रही थी और हम एकदम बाल-बाल बचे। फिर हम जिस ट्राम-कार में बैठे थे वह भी उलट गयी, लेकिन हम फिर बच गये और हमें खरोंच तक न आयी। यह शायद कल की घटना का संकेत हो।

स्पष्ट है कि वही अर्थ था—शायद एकदम ठीक-ठीक वह नहीं, लेकिन किसी दुर्घटना और कठिनाइयों का संकेत और सुझाव ज़रूर था, हालाँकि उसका सचमुच कोई दु:खद परिणाम नहीं हुआ।

२५ जुलाई १९३५

सवेरे जब हम कमिश्नर के पास गये तो वहाँ मुझे शान्ति और प्रेम का भरपूर अनुभव हुआ, और बेंजामिन से बातें करते समय वे बहुत ही सौहार्दपूर्ण थे। दोपहर को "Chef" के यहाँ भी मुझे वही समान अनुभव हुआ—वहाँ एक-दूसरे से हाथ मिलाने के सिवाय और कुछ नहीं था। ऐसा लगा मानों 'उपस्थिति' वहाँ मौजूद थी।

२६ जुलाई १९३५

(हालाँकि इसका श्रीअरविन्द का उत्तर अप्राप्य है, लेकिन प्रश्न को इसलिए सम्मिलित कर लिया गया है क्योंकि यह सारी घटना को एक सुखद अन्त पर ले आया।)

श्रीअरविन्द